

मा०
१११

कालदास



वर्ष ६०

संख्या ८

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

(संस्करण १,६५,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर भाद्रपद, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१२, अगस्त १९८६

विषय	पृष्ठ-संख्या	विषय	पृष्ठ-संख्या
१-यशोदाजीका तुलसी-पूजन	... ८०९	१४-पूर्ण दुःखनिवृत्ति क्या सम्भव है ?	...
२-कल्याण ('शिव')	... ८१०	(स्वामी श्रीशंकरानन्दजी सरस्वती)	... ८३८
३-मनोबोध—४ (समर्थ स्वामी रामदासजी महाराजकी वाणी) [अनु०—कु० रोहिणी गोखले]	... ८११	१५-कलिनाशक नल-दमयन्ती-चरित्र—५	...
४-सद्गुण-सदाचार (ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गायन्दका)	... ८१३	(श्रीहरिकृष्णजी तुजारी)	... ८४०
५-वेणुगीत (नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)	... ८१७	१६-सुख और शान्तिकी कुंजी हमारे ही हाथमें (श्रीदुर्गाप्रसादजी मंडेलिया)	... ८४३
६-आत्म-निवेदन [कविता] (स्वामी श्रीसनातनदेवजी)	... ८२०	१७-आदर्श ईमानदारी [सत्य घटना]	... ८४५
७-श्रीशुकदेवमुनिका सगुणब्रह्ममें चित्ताकर्षण (संत श्रीरामचन्द्र डोंगरेजी महाराज)	... ८२१	१८-गीता-माधुर्य—१२ (श्रद्धेय स्वामी श्रीराम-सुखदासजी महाराज)	... ८४६
८-कीर्तनप्रेमी कबीर (डॉ० श्रीभुवनेश्वरप्रसादजी वर्मा 'कमल', एम० ए०, डी० लिट्०)	... ८२५	१९-सच्चा विवेक [कविता] (श्रीराधा-कृष्णजी श्रीत्रिय, 'सौवरा')	... ८४७
९-पापकोके प्रति—[सच्ची मनुष्यता] (श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)	... ८२८	२०-फगली [कहानी] (पं० श्रीकृष्णानन्दजी अग्निहोत्री)	... ८४८
१०-तुलसी ! भजु दीनदयालहि रे ! [कविता]	... ८३०	२१-नंदके नंदनपर लगन लगी रहै [कविता]	... ८५१
११-भरत हंस रविवंस तझागा (डॉ० श्रीरामा-प्रसादजी मिश्र, एम० ए०, पी० एच्० डी०)	... ८३१	२२-साधनोपयोगी पत्र	... ८५२
१२-सचाईका पुरस्कार (पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम० ए०)	... ८३५	२३-विद्यादान (महाकवि श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर)	... ८५६
१३-सुखेतु होत ऊपरों [कविता]	... ८३७	२४-पढ़ो समझो और करो	... ८५७
		२५-मनन करनेयोग्य	... ८६०
		२६-सुखमय जीवनके लिये वृक्षारोपणकी अनिवार्य आवश्यकता	... ८६२
		२७-वृक्षारोपणसे अक्षय पुण्यकी प्राप्ति	... ८६४

चित्र-सूची

१-भगवान् श्रीकृष्णका मुरली-वादन	(रेखा-चित्र)	आवरण-पृष्ठ
२-यशोदाका तुलसी-पूजन	(रंगीन चित्र)	मुखपृष्ठ

प्रत्येक साधारण

अङ्कका मूल्य

भारतमें १.२५ रु०

विदेशमें १.५ पौंस

जय विराट् जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

कल्याणका वापिक

मूल्य

भारतमें ३०.०० रु०

विदेशमें ४०.०० रु०

(५ पौंड)

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गायन्दका

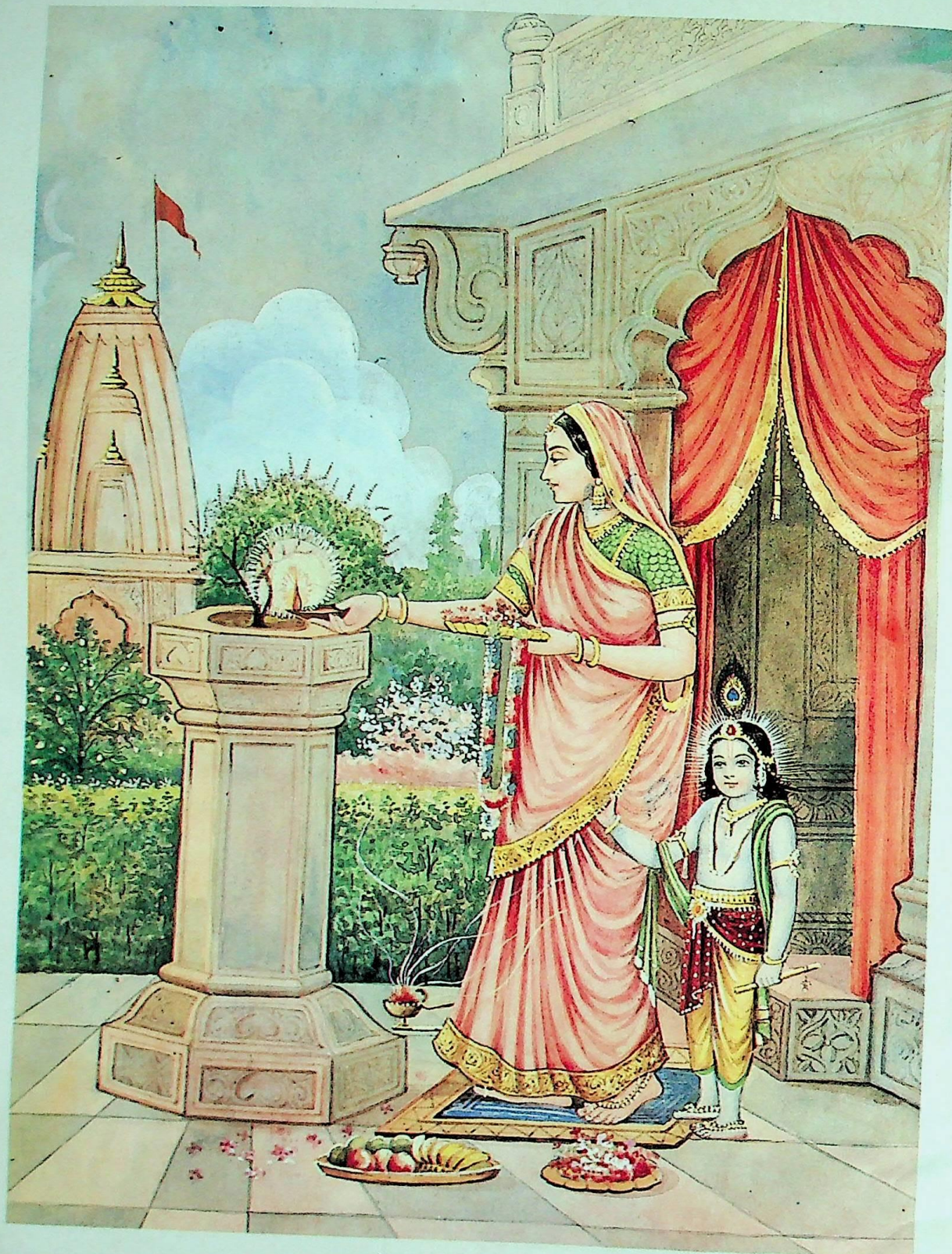
आदिप्रभादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

सम्पादक—राधेश्याम त्रिपाठी

गोविन्द-भवन-कार्यालयके लिये जगदीशप्रसाद जलानद्वारा गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित

(भारत-सरकारद्वारा उपलब्ध कराये गये रियायती मूल्यके कागजपर मुद्रित)

CC-O. Nanaji Deshmukh Library, BJP, Jammu. Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha



ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



कल्याण

चेतोदर्पणमार्जनं भवमहादावाग्निनिर्वापणं श्रेयःकैरवचन्द्रिकावितरणं विद्यावधूजीवनम् ।
आनन्दाम्बुधिवर्धनं प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनं सर्वात्मस्नपनं परं विजयते श्रीकृष्णसंकीर्तनम् ॥

वर्ष ६० } गोरखपुर, सौर भाद्रपद, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१२, अगस्त १९८६ ई० { संख्या ८
पूर्ण-संख्या ७१७

यशोदाजीका तुलसी-पूजन

यशोदा तुलसीपूजां चक्रे भक्त्या शरदृतौ ।

कृष्णोऽप्यगाच्छनैस्तत्र बाल्ये वृन्दावने हरिः ॥

‘यशोदाजी शरद्-ऋतु (कार्तिकमास) में वृन्दावनमें भक्ति-पूर्वक तुलसीका पूजन किया करती थीं, उस समय वचपनमें भगवान् श्रीकृष्ण भी उनके साथ—पीछे-पीछे धीरे-धीरे चलते वहाँ जाया करते थे ।

कल्याण

दूसरोंको चाहे जितना शान्तिका उपदेश दो, सुख-दुःखोंमें सम रहकर आनन्दमग्न रहनेकी चाहे जितनी मीमांसा करो, जबतक तुम्हारा हृदय शान्त नहीं है, जबतक तुम्हारा हृदय आनन्दसे पूर्ण नहीं है, तबतक सब व्यर्थ है। धनी कहलानेसे तो बखेड़ा बढ़ता है। सच्चे धनी बनो, फिर चाहे कोई तुम्हें कंगाल ही क्यों न समझे।

अपना काम बनानेमें शीघ्रता करो; क्योंकि जीवनके दिन बहुत ही शीघ्र बीते जा रहे हैं। परोपदेशमें ही आयु बिता दोगे तो न तुम्हारा कल्याण होगा और न कोरे जवानी जमाखर्चसे दूसरोंका ही दुःख दूर होगा। पहले धनी बनो, फिर बाँटो। बिना धनी हुए क्या बाँटोगे !

अपने हृदयको सदा पैनी दृष्टिसे देखते रहो; याद रखो—जहाँ तुम्हारा मन है, तुम वहीं हो। मन्दिरमें रहो या वनमें, मन यदि कारखानेमें या बाजारमें है तो तुम भी वहीं हो। जिसके मनमें भगवान् बसते हैं, वह भगवान्के मन्दिरमें है और जिसके मनमें विषय बसते हैं, वह संसारमें है।

वृत्तियोंको विषयोंसे हटाकर भगवान्में लगाओ या जहाँ वृत्तियाँ जायँ वहीं भगवान्को देखो। पल-पलमें सँभालते रहो, वृत्ति कहाँ है ! द्रष्टा बने देखो। फिर वृत्तियाँ स्वतः ही भगवन्मुखी हो जायँगी।

शास्त्रार्थ न करो, विवादमें मत पड़ो, किसीको हरानेकी नीयत न रखो; अपने काममें लगे रहो। अपना भजन, ध्यान, स्मरण, पूजन न छूटे। शास्त्रार्थमें जीत जाओगे तो अभिमानभर बढ़ेगा। साथ ही उतनी देर जो बहिर्मुख वृत्ति रहेगी, वह तो बड़ी हानि होगी ही।

जान-पहचान अधिक बढ़ानेकी चेष्टा न करो, चुपचाप भजन करते रहो। ख्यातिसे प्रपञ्च बढ़ेगा, परिवार बढ़ेगा, भजनमें बाधा आयेगी, मान-पूजा होने लगेगी और कहीं मान-पूजाको मन स्वीकार कर लेगा, तब तो समझो कि पतनके लिये गड्ढा ही खुद गया।

कम बोलो, कम सुनो, कम देखो, कम मिलो-जुलो, यह सब उतना ही करो, जितना अत्यन्त आवश्यक हो। एक पल भी बिना आवश्यकताके इन कामोंमें मत लगाओ।

घरमें अतिथिकी भाँति रहो, कुछ भी अपना मत समझो। सेवा करानेमें संकोच करो, डर-डरकर व्यवहार करो। सबका हित चाहो। किसीको दुःख न पहुँच जाय, इस बातका ध्यान रखो। ममता मत बढ़ाओ। अतिथिको घरसे चले ही जाना है, इस बातको याद रखो।

अपने लिये पापको छोड़कर अन्य किसी भी विपत्तिसे मत डरो, डरो दूसरोंको संकोचमें डालनेमें, डरो दूसरोंको बाध्य करनेमें, डरो दूसरोंको दुःख पहुँचानेमें, डरो दूसरोंका अहित करनेमें, डरो दूसरोंसे पूजा करवानेमें, डरो दूसरोंसे सेवा करानेमें, डरो दूसरोंको चरणधूलि देनेमें, डरो दूसरोंसे स्तुति सुननेमें और डरो भगवान्को भूलनेमें।

ऐसा प्रयत्न करते रहो कि क्षणभर भी भगवान् न भूलें, वे मनमें, वाणीमें तथा नेत्रोंमें बसे ही रहें। अन्य किसी बातमें भले ही भूल हो जाय, पर इसमें भूल न हो।

साधनमें संतोष न करो, सदा आगे बढ़ते ही रहो, देखते रहो कि आज कितना आगे बढ़े। पीछे फिरनेकी तो कभी कल्पना ही मनमें मत उठने दो। —‘शिव’

मनोबोध--(४)

(समर्थ स्वामी रामदासजी महाराजकी वाणी)

भवाच्या भयें फाय भीतांसि लंडी ।
धरी रे मना धोर धाकासि सांडी ॥
रघुनायका सारिखा स्वामि शीरीं ।
नुपेशी कदा कोपल्या दंडधारी ॥ २७ ॥

हे मन ! तुम संसारके अथवा भविष्यकी घटनाओं (होनी) के भयसे व्यर्थ भयभीत क्यों होते हो ! धैर्य धारण करके भयका त्याग कर दो; क्योंकि श्रीरघुनायकके समान कोदण्डधारी तुम्हारा स्वामी (तुम्हारी रक्षा करने-हेतु सदा तत्पर) है । क्रोधित होनेपर भी वे अपने भक्तकी उपेक्षा नहीं करते, अथवा दण्डधारी अर्थात् यमराज कुपित हो जायँ तो भी श्रीरामजी उनसे अपने भक्तकी रक्षा ही करते हैं, भक्तकी उपेक्षा नहीं करते ।

दिनानाथ हा राम को डधारी ।
पुढें देखतां काल पोटीं घरारी ॥
जना वाक्य नेमस्त हैं सत्य मानी ।
नुपेशी कदा राम दासाभिमानी ॥ २८ ॥

दिनानाथ कोदण्डपाणि (धनुर्धारी) श्रीरामजीको सामने देखते ही मृत्यु भयसे कम्पित हो जाती है । इस निश्चित वाक्यको सत्य मानो । श्रीरामजी कभी भी अपने सेवककी उपेक्षा नहीं करते (अतः निश्चिन्त रहो) ।

पदों राघवाचें सदा ब्रीद गाजे ।
बलें भक्तरीपूजिरीं कांभि वाजे ॥
पुरी वाइली सर्व जेणें विमानों ।
नुपेशी कदा राम दासाभिमानी ॥ २९ ॥

श्रीरामके पावन चरणोंका यह ब्रीद (प्रण) है कि वे भक्तोंके शत्रुओंको कभी क्षमा नहीं करते, अतः उन महाप्रतापी श्रीरामजीके धनुषकी टंकार भक्तके शत्रुओंके शिरच्छेदनके लिये होती है । जिन्होंने लष्कारसे विमानद्वारा भक्तोंको अपनी अयोध्यानगरीकी ओर बहान

किया, वे दासोंका अभिमान रखनेवाले उनकी उपेक्षा कभी नहीं करते ।

समर्थांचिया सेवका वक्र पाहे ।
असा सर्व भूमंडळों कोण आहे ॥
जयाची लिळा वर्णितो लोक तीनही ।
नुपेशी कदा राम दासाभिमानी ॥ ३० ॥

समर्थ स्वामी श्रीरामजीके सेवकोंकी ओर जो तिरछी दृष्टिसे देख सके, ऐसा इस समस्त भूमण्डलपर कोई नहीं है । जिनकी लीलाका वर्णन तीनों लोक करते हैं, वे दासाभिमानी श्रीरामचन्द्र भक्तोंके अभिमानको धारण करनेवाले हैं । उनकी उपेक्षा नहीं करते, अवहेलना नहीं करते ।

महां संकटों सोडिले देव जेणें ।
प्रतापें बलें आगळा सर्व गूणें ॥
जयातें स्मरे शैल्यजा शूलपाणी ।
नुपेशी कदा राम दासाभिमानी ॥ ३१ ॥

जिन्होंने देवोंको महान् संकटसे छुड़ाया, गुणोंमें तथा बल और पराक्रमके कायमि जो सबसे निराले हैं, शूलपाणि शंकरजी और शैलजा पार्वती दोनों जिनका स्मरण करते हैं, वे श्रीरामजी दासाभिमानी होनेके कारण कभी उपेक्षा नहीं करते । (वे अपने सेवकोंका ध्यान रखते हैं ।)

अद्विष्ट्या शिळा राघवें मुक्त केली ।
पदों लागतां दिव्य होऊनि गेली ॥
जया वर्णितां सीणली वेदवाणी ।
नुपेशी कदा राम दासाभिमानी ॥ ३२ ॥

श्रीराघवेन्द्रने शिलारूपमें परिवर्तित हुई गौतमपत्नी अहल्याको मुक्त किया, जिनका चरणस्पर्श पाते ही वेदवाणी यत्कर नेति-नेति कहने लगी, वे दासोंका

अभिमान रखनेवाले श्रीरामजी दासोंकी अवहेलना नहीं करते ।

वसे मेरुमांदार हे सृष्टिलीला ।
शशी सूर्य तारांगणें मेघमाळा ॥
चिरंजीव केले जनीं दास दोन्ही ।
उपेक्षी कदा राम दासाभिमानि ॥ ३३ ॥

चन्द्र, सूर्य, तारागण, मेघमाळाएँ, मेरु, मन्दर आदि जिनकी सृष्टिलीला हैं, जो इनमें रहते हैं, जिन्होंने जगमें अपने दोनों दासों (हनुमान् तथा विभीषण) को अमर किया, वे अभिमान रखनेवाले श्रीरामचन्द्र दासोंकी कभी भी उपेक्षा नहीं करते ।

उपेक्षा कदा रामरूपीं असेना ।
जिवां मानवां निश्चये तो वसेना ॥
शिरीं भार वाहेन बोले पुराणीं ।
उपेक्षी कदा राम दासाभिमानि ॥ ३४ ॥

देखो मन ! श्रीराम-अवतारमें उपेक्षाके लिये कोई स्थान नहीं है । (रामावतारमें उन दीनवन्धु परमेश्वरने किसीकी भी उपेक्षा नहीं की । सबको समभावसे देखा । शत्रु-मित्रका भेद रामावतारमें नहीं है । जितनी सहजतासे श्रीरामने हनुमान् और सुग्रीवको अपनाया उतनी ही सहजतासे रावणके भाई विभीषणको भी अपना लिया ।) किंतु मानवके मनमें यह निश्चय नहीं हो पाता कि श्रीराम उसकी उपेक्षा नहीं करेंगे । जिन्होंने 'सिरपर भार वहन करूँगा'—ऐसी प्रतिज्ञा की, (भगवद्गीतामें लोकाभिराम श्रीकृष्ण भगवान्ने कहा है—
'तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्'—
उन नित्य अपनेमें लगे रहनेवाले भक्तियोगियोंका योगक्षेम मैं वहन करता हूँ ।) वे दासजनोंका अभिमान रखनेवाले श्रीरामजी दासोंकी कभी अवहेलना नहीं करते ।

असे हो जया अंतरीं भाव जैसा ।
वसे हो तथा अंतरीं देव तैसा ॥
अनन्यास रक्षीतसे चापपाणी ।

उपेक्षी कदा राम दासाभिमानि ॥ ३५ ॥

जिसके अन्तःकरणमें जैसा भाव होता है, वैसा ही रूप लेकर भगवान् उसके अन्तःकरणमें रहते हैं । (जाकी रही भावना जैसी । प्रभु मूरति देखी तिन तैसी ॥ इस पङ्क्तिमें तुलसीदासजीने यही भाव व्यक्त किया है ।) जो अनन्यशरण हो जाता है या हो गया है, उसकी धनुर्धारी श्रीराम रक्षा करते हैं । दासजनोंका अभिमान रखनेवाले श्रीराम उनकी कभी अवहेलना नहीं करते ।

सदा सर्वदा देव सन्नीध आहे ।
कृपाळूपणें अल्प धारिष्ट पाहे ॥
सुखानंद आनंद कैवल्यदांनी ।

उपेक्षी कदा राम दासाभिमानि ॥ ३६ ॥

भगवान् सदा ही हमारे निकट रहते हैं; किंतु वे हमारे धैर्यकी थोड़ी परीक्षा लेते हैं । इसमें उनकी कृपा ही अधिक होती है । वे सुखके भी आनन्द, आनन्द और कैवल्यमोक्षके दाता हैं । सेवकोंका अभिमान रखनेवाले श्रीराम दासोंकी कभी उपेक्षा नहीं करते ।

सदा चक्रवाकसि मातंड जैसा ।
उडी वालितो संकटीं स्वामी तैसा ॥
हरीभक्तिका वाव गाजे निशाणीं ।

उपेक्षी कदा राम दासाभिमानि ॥ ३७ ॥

चक्रवाक पक्षीके लिये जैसे सूर्य हैं, वैसे ही भक्तोंके संकटकालमें सेवकाभिमानी श्रीराम दासोंके संरक्षणमें तत्पर रहते हैं । हरिभक्तिकी ऐसी महिमा है कि वह बड़े-से-बड़े संकटसे भक्तको उबार देती है । भक्तिके बलपर संकटोंका नाश होता है । ऐसे सेवकाभिमानी श्रीराम दासोंकी अवहेलना नहीं करते ।

(अनु०—कु० रोहिणी गोखले)

(कमशः)

सद्गुण-सदाचार

(ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

द्वेषको कभी हृदयमें नहीं ठिकने देना चाहिये ।

जब किसीपर क्रोध आये, तब उसी समय सावधान होकर विवेकबुद्धिसे काम लेना चाहिये ।

क्रोधके वशमें होकर कुछ कर बैठना भविष्यमें अत्यन्त दुःखदायी हुआ करता है ।

लोभ पापका जन्मदाता है । लोभवृत्ति जागनेपर न्यायान्याय और सत्यासत्यका विचार नहीं ठहर सकता ।

जो मनुष्य निर्भय होकर न्यायपथपर चलता है, महान्-से-महान् संकटमें भी धैर्यको नहीं छोड़ता, उसका यहाँ-वहाँ कहीं भी कभी पतन नहीं होता ।

परमात्माको हर जगह देखनेपर तो भय कहीं रहता ही नहीं ।

दम्भी मनुष्य समझता है कि मैं दूसरोंको ठगता हूँ, परंतु वास्तवमें वह स्वयं ही ठगा जाता है ।

यथासम्भव स्वावलम्बी बननेकी चेष्टा करनी चाहिये ।

यथासाध्य दूसरोंके द्वारा अपनी सुविधाके लिये सेवा कभी नहीं करानी चाहिये ।

मनुष्यको चाहिये कि वह यथासाध्य अपनी आवश्यकताओंको घटा दे ।

जितने अधिक कम खर्चमें जीवन-निर्वाह हो सके, उतना ही कम खर्च करे ।

धन अधिक हो तो उसका उपयोग गरीब, निर्धन, अपाहिज भाई-बहनोंकी सेवामें करे ।

गुरुजनोंके आशीर्वादसे आयु, विद्या, यश और बलकी वृद्धि होती है ।

गुरुजनोंकी आज्ञाका पालन करनेमें तत्पर होना चाहिये ।

परायी निन्दा-स्तुति या व्यर्थ चर्चा मनुष्यको बहुत ही मीठी लगती है ।

स्वार्थके लिये स्तुति करना भी बहुत बुरा है ।

प्रतिष्ठाकी चाह दादके खाजकी तरह बड़ा ही सुहावना रोग है, जो आरम्भमें सुखकर प्रतीत होनेपर भी अन्तमें बड़ा दुःखदायी होता है ।

आत्माका कल्याण चाहनेवालेकी तो मान-बड़ाईसे बड़ी हानि होती है ।

शम, दम, धृति, क्षमा, शान्ति, संतोष, जप, तप, सत्य, दया, दान और सेवा आदि सद्गुणों और सत्कर्मोंमें आपके विचारमें जो उत्तम प्रतीत हों, उनका ग्रहण तथा प्रमाद, आलस्य, निद्रा, विषयासक्ति, झूठ, कपट, चोरी-जारी आदि दुर्गुणों और दुष्कर्मोंका त्याग करना चाहिये ।

प्रत्येक कर्म करनेसे पूर्व सावधानीके साथ यह सोच लेना चाहिये कि मैं जो कुछ कर रहा हूँ, वह मेरे लिये यथार्थ लाभदायक है या नहीं और उसमें जहाँ-कहीं भी त्रुटि जान पड़े, उसका बिना विलम्ब सुधार कर लेना चाहिये ।

श्रद्धा, प्रेम और सत्कारपूर्वक की हुई संधोपासनासे सब पापोंका नाश होकर आत्माका कल्याण हो सकता है ।

सभी द्विजातियोंको प्रातः, मध्याह्न और सायंकालकी संध्या श्रद्धा, प्रेम और सत्कारपूर्वक करनी चाहिये । तीनों कालकी न कर सकें तो प्रातः-सायं-संध्या तो अवश्यमेव करनी चाहिये ।

द्विज होकर जो संध्या नहीं करता, वह प्रायश्चित्त-

का भागी और शूद्रके समान समझा जाता है ।

प्रातःकालकी संध्योपासना तारोंके रहते उत्तम, तारोंके छिप जानेपर मध्यम और सूर्योदयके अनन्तर कनिष्ठ मानी गयी है। सायंकालकी संध्याका भी सूर्यके रहते हुए करना उत्तम, अस्त हो जानेपर मध्यम और नक्षत्रोंके प्रकट हो जानेपर करना कनिष्ठ माना गया है।

प्रत्यक्ष देवताओंमें सूर्यसे बढ़कर कोई दूसरा देव नहीं है और सृष्टिके आदिमें भगवान् सूर्यरूपमें ही प्रकट होते हैं। इसलिये सूर्यकी उपासना ईश्वरकी ही उपासना है।

सूर्य भगवान्के दर्शन, ध्यान और अर्घ्यके समय ऐसा समझना चाहिये कि हम भगवान्का साक्षात् दर्शन और स्वागतादि कर रहे हैं।

प्रेम और आदरपूर्वक सूर्य भगवान्की उपासना करते-करते हम उनकी कृपासे अवश्य ही परम धामको प्राप्त कर सकेंगे।

द्विजातिमात्रको कम-से-कम प्रातः और सायं दोनों कालकी संध्या और दोनों समय कम-से-कम एक सौ आठ मन्त्रोंकी एक-एक माला गायत्रीका जप अवश्य करना चाहिये।

बलिवैश्वदेव किये बिना भोजन करना शास्त्रोंमें निन्दित माना गया है और बलिवैश्वदेव कर चुकनेपर जो अन्न वचता है, वह अमृत बतलाया गया है।

जगत्के समस्त प्राणियोंके निमित्त अपने भोजनमेंसे कुछ अंश देकर शेष बचा हुआ अन्न खाना कितनी उदारता और समताका सूचक है।

प्रत्येक मनुष्यको प्रतिदिन परमात्माके और अपनेसे बड़े जितने लोग घरमें हों, उन सबके चरणोंमें प्रणाम करना चाहिये। हो सके तो बिछौनेसे उठते ही कर ले, नहीं तो स्नान-पूजादिके बाद करे।

स्त्री अपने पतिके और घरमें अपनेसे बड़ी सभी स्त्रियोंके चरणोंमें प्रणाम करे। बड़े पुरुषोंके दूरीसे

प्रणाम करे। घरमें कोई बड़ा न हो तो स्त्री-पुरुष सभी परमात्माको ही प्रणाम करें।

सत्य वही है, जो यथार्थ हो, प्रिय हो, कपटरहित हो और किसीका अहित करनेवाला न हो।

लोक, मोह या क्रोधसे किसी प्रकार किसीको किञ्चित् भी कष्ट न पहुँचाना अहिंसा है।

जैसा कुछ देखा-सुना-समझा हो, वैसा ही पराये हितको दृष्टिमें रखकर यथार्थ करना सत्य है।

मन, वाणी, शरीरसे कभी दूसरेकी किसी भी वस्तुपर अधिकार न जमाना अस्तेय है।

आठ प्रकारके मंथुनोंका सर्वथा त्याग करना ब्रह्मचर्य है।

भोग्यवस्तुओंका सर्वथा संग्रह न करना अथवा गमता-बुद्धिसे किसी भी भोग्यवस्तुका संग्रह न करना अपरिग्रह है।

अहिंसावृत्तिका पूर्ण पालन होनेसे उसके निकट रहनेवाले हिंसक पशुओंमें भी हिंसावृत्ति नहीं रहती।

सत्य-व्रतका पूरा पालन होनेपर जो कुछ भी कहा जाय, वही सत्य हो जाता है, उसकी वाणी कभी व्यर्थ नहीं जाती।

अस्तेयव्रतकी पूर्ण पालना होनेसे सारे रत्नोंपर उसका अधिकार हो जाता है।

ब्रह्मचर्यकी पूर्ण प्रतिष्ठा होनेसे वीर्य अर्थात् शारीरिक और मानसिक महान् पराक्रमकी प्राप्ति होती है।

अपरिग्रहके पूर्ण पालनसे जन्मान्तरकी बातें जानी जा सकती हैं।

मिट्टी, जल आदिसे शरीरकी, शुद्ध व्यापार और आचरणोंसे आहार-व्यवहारकी तथा राग-द्वेषादिके

भगवत्कृपासे जो कुछ भी प्राप्त हो जाय, उसीमें संतुष्ट होना—यह संतोष है।

धर्म-पालनके लिये कष्ट सहन करना या कृच्छ्र-चान्द्रायणादि व्रत करना अथवा शीतोष्णादि सहना 'तप' है।

वेद, उपनिषद्, गीता और ऋषिप्रणीत शास्त्रोंका अध्ययन, गायत्री आदि मन्त्र और भगवन्नामका जप 'स्वाध्याय' है।

भगवान्को सर्वस्व अर्पण करना और उन्हींके परायण हो जाना 'ईश्वरप्रणिधान' है।

बाह्य-शौचके पूर्ण पालनसे अपने शरीरपर धृणा हो जाती है और दूसरेके संसर्गसे वैराग्य हो जाता है। आन्तरिक शौचसे चित्तकी शुद्धि, मनकी प्रसन्नता, एकाग्रता, इन्द्रियोंपर विजय और आत्मदर्शनकी योग्यता प्राप्त हो जाती है।

संतोषके पूर्ण धारणसे सर्वोत्तम सुखकी प्राप्ति होती है।

तपके द्वारा अशुद्धिका नाश होकर अणिमा, लघिमा आदि शरीरकी और दूरदर्शन-श्रवण आदि इन्द्रियोंकी सिद्धि प्राप्त होती है।

स्वाध्यायसे अपने इष्टदेवताके दर्शन होते हैं।

ईश्वर-प्रणिधानसे समाधिकी सिद्धि होती है।

आसनकी सिद्धिसे शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वोंसे पीड़ा नहीं होती।

प्राणायामके अभ्याससे प्रकाशके आवरणका अर्थात् ज्ञानको ढक रखनेवाले पर्देका क्षय हो जाता है तथा मनकी शक्ति धारणाके योग्य हो जाती है।

प्रत्याहारसे इन्द्रियोंपर पूर्ण विजय मिल जाती है।

सेवा मनुष्यका मुख्य धर्म है।

सारे संसारको भगवान्का स्वरूप समझकर मन, तत्काल द्रवित हो जाता है।

वाणी, शरीरसे अभिमान छोड़कर सबकी निःस्वार्थ सेवा करनी चाहिये।

जिसकी सेवा करनेका अवसर मिले, उसका और भगवान्का अपने ऊपर उपकार मानना चाहिये।

सेवा करके किसीपर एहसान नहीं करना चाहिये।

सेवा स्वीकार करनेवालेको कभी छोटा नहीं समझना चाहिये।

जिस मनुष्यके मनमें दया नहीं, उसका हृदय पाषाणके समान है।

गरीब, अनाथ, अपाहिज, रोगी, असहाय जीवोंपर दया करके जीवनको सफल करना चाहिये।

अभिमान ही मनुष्यको गिरानेवाला है।

व्रता और ऐंठको छोड़कर दीनता धारण करनी चाहिये।

परोपकार पुण्यका और परपीडन पापका हेतु है।

अभिमान, स्वार्थ और कामको छोड़कर निरन्तर परोपकारमें रत रहना चाहिये।

संध्याके द्वारा परमात्माकी सूर्य, अग्नि और जलरूपसे उपासना होती है।

संघोपासनासे सारे पाप दूर हो जाते हैं और इसीसे अन्तमें भगवान्की प्राप्ति हो जाती है।

गृहस्थके लिये पञ्चमहायज्ञकी भी बड़ी आवश्यकता है। कम-से-कम बलिवैश्वदेव तो नित्यप्रति अवश्य ही करना चाहिये।

घरका हो या बाहरका, मित्र हो या बैरी, किसीको भी दुःखमें देखकर सदैव उसे बचानेकी चेष्टा करनी दया कहलाती है।

दयालु पुरुषका हृदय दूसरेके दुःखको देखकर

दान देना मनुष्यमात्रका धर्म है ।

धन, विद्या, बुद्धि, अन्न, जल, वस्त्र, सत्परामर्श, जिसके पास जो कुछ हो, योग्य देश, काल, पात्र देखकर उसका दान करना चाहिये ।

दान सात्त्विकभावसे होना चाहिये ।

जो दान देश, काल, पात्र न देखकर बिना सत्कार या तिरस्कारपूर्वक दिया जाता है, वह तामस है ।

जो मनमें कष्ट पाकर, बदला लेनेकी इच्छासे या मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा, पुत्र-प्राप्ति, रोग-निवृत्ति या स्वर्ग-सुखादिकी प्राप्तिके लिये दिया जाता है, वह राजस है ।

जो कर्तव्य समझकर प्रत्युपकारकी कोई भी भावना न रखकर उचित देश, काल, पात्रमें दिया जाता है, वह सात्त्विक दान है ।

सात्त्विक दान भगवत्प्राप्तिमें बहुत सहायक होता है ।

दानकी महत्ता रूपयोंकी संख्यापर नहीं है, वह तो दाताकी नीयतपर निर्भर करती है ।

जिस दानमें जितना ही अधिक स्वार्थ-त्याग होगा, उतना ही उसका महत्त्व अधिक है ।

जो पुरुष मन, इन्द्रिय और शरीरको वशमें रखकर राग-द्वेषके वशमें न होकर संसारमें विचरता है, वही आनन्दको प्राप्त होता है ।

संयमी पुरुष ही नीरोग, बलवान्, धर्मात्मा, दीर्घायु और मोक्षके योग्य होते हैं ।

सत्य भगवान्का स्वरूप है, जहाँ सत्य है, वहीं भगवान् हैं ।

स्वार्थ, आदत, हँसी-मजाक या भविष्यके वचनोंमें भी किसी प्रकार झूठ नहीं बोलना चाहिये ।

संसारमें भगवद्भावसे पुत्रको माता-पिताके, शिष्यको गुरुके, स्त्रीको पतिके और सेवकको स्वामीके अधीन रहकर कर्तव्यका पालन करना भी भगवान्के ही अधीन होना है ।

जो पुरुष पर-स्त्रीमात्रमें मातृ-बुद्धि रखता है, उसके तेज और तपकी वृद्धि होती है और वह पापोंसे बचकर भगवान्को पा सकता है ।

सुखियोंके प्रति मैत्री, दुखियोंके प्रति करुणा, पुण्यात्माओंको देखकर प्रसन्नता और पापियोंके प्रति उपेक्षाकी भावनासे चित्त स्थिर होता है ।

इतिहास, स्मृति, पुराण आदि ग्रन्थोंमें जहाँ-कहीं भी ईश्वरपर झूठ, कपट, व्यभिचार आदि दोषोंका आरोप प्रतीत हो और मद्य, मांस आदिके सेवन तथा अस्त्य, दम्भ, व्यभिचार आदि दोषोंका विधान मिले, मेरी साधारण बुद्धिके अनुसार उन शब्दोंका अर्थ समझनेकी कुछ भी आवश्यकता नहीं है, उन पङ्क्तियोंको छोड़कर ही शेष सदुपदेशको ग्रहण करना चाहिये और तदनुसार आचरण करना चाहिये ।

इतिहास-पुराण आदि शास्त्रोंके रचयिता तत्त्वज्ञ सिद्ध महात्माओंने कृपापरवश हो जो कुछ लिखा है, वह सत्य ही है, अल्पबुद्धि होनेके कारण हमलोग उनके भावोंको ठीक-ठीक समझ नहीं सकते और अपनी अल्पज्ञताका दोष उन महात्माओंके सिर मढ़ते हैं ।

क्रोधमें मनुष्यकी बुद्धि मारी जाती है ।

प्रायश्चित्तादि उपायोंसे भी फलभोगके समान ही पापोंका नाश हो जाता है, क्योंकि प्रायश्चित्त भी एक प्रकारसे भोग ही है ।

—क्रमशः

वेणुगीत

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

[गताङ्क पृष्ठ ७७१ के आगे]

मधुर-रस

शरत्कालीन वन-विहारकी लालसासे वृन्दावनकी अतुलनीय शोभासे सम्पन्न बड़े सुन्दर मधुर मनोहर वनमें प्रवेश करके ब्रजराजनन्दनने बंशी फूँकना आरम्भ किया । जहाँ-जहाँपर यह ध्वनि पहुँची, सभीको अभूत-पूर्व परम आनन्दकी उपलब्धि हुई । ब्रजाङ्गनाओंके चित्तमें एक नवीन भावका उद्दीपन हुआ । सारे उद्दीपनभाव वहाँ स्वभावतः उपस्थित थे—शरत्कालीन प्रकृतिकी शोभा, ब्रजराजनन्दनके पौण्ड्रके अंदरसे झँकता हुआ नयकैशोर आदि । सूर्यके उदयसे पहले मधुर अरुणिमा होती है न, लाल-लाल प्रकाश होता है । जरा-जरा-सा उसी प्रकार उस समय ब्रजबधुओंके नेत्रोंमें कैशोरका प्रकाश होने लगा । बंशी-निनाद जब श्रीगोपाङ्गनाओंके कानोंमें गया तो उनके चित्तमें एक अभूतपूर्व मिलन-इच्छा प्रकट हो गयी । वहाँपर दो तरहकी गोपाङ्गनाएँ थीं—एक समययस्का और दूसरी न्यून अवस्थावाली—छोटी उम्रकी । श्रीराधिकाजी, चन्द्रावतीजी—ये प्रायः समययस्का ही हैं, इनकी वयमें कुछ दिनोका ही अन्तर है और बाल्यकालसे ही श्यामसुन्दरके प्रति इनमें प्रगाढ़ प्रेम है ।

बाल्यकालसे ही ये नित्यसिद्धा श्रीगोपाङ्गनाएँ—विछोह-विच्छेद सहन नहीं कर सकतीं । यद्यपि भगवान्की नित्य प्रेयसी होनेके कारण बाल्यकालमें उनमें प्रेमभावका अस्तित्व था ही, पर शैशव-अवस्थामें वह प्रकट नहीं था । शैशव-अवस्थामें स्त्री-पुरुषका भेद नहीं था । धीरे-धीरे वह भेद जाग्रत् होने लगा । जो बाल-सुलभ निःसंकोच व्यवहार था, उसमें जरा-जरा-सा संकोच स्वाभाविक होने लगा; परंतु इससे उन ब्रजाङ्गनाओंके मनमें जो कृष्णानुराग था, भगवान्में जो अनुरक्ति थी, वह न मिटी, न कम हुई ।

मिलनेच्छा उत्तरोत्तर बढ़ती गयी । बंशीनादसे वह मिलनेच्छा बहुत बढ़ गयी और बढ़ती-बढ़ती चरम सीमापर जा पहुँची । अपने-आप दैन्य, लज्जा, कुलशील, भय आदि सबका परित्याग हो गया । इस लीलामें सर्वनियन्ता-सर्वेश्वर, सर्वलोक-महेश्वर, सर्वात्मा, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, भगवान् नायक हैं ।

भगवान्की स्वरूपा-शक्ति श्रीराधाजी स्वरूपतः-तत्त्वतः श्रीकृष्ण ही हैं तथा उनकी कायव्यूहरूपा महाभाववती ब्रजरमणियाँ नायिका हैं । इनमें परस्परका सम्बन्ध समझनेका विषय है । ये सब भगवान्के साथ जुड़नेवाली होती हैं, तभी सार्थकता है । नहीं तो गिरानेवाली हो जाती हैं । बड़ा सुन्दर ग्रन्थ है—‘उज्ज्वल नीलमणि’, यह संस्कृतमें है । उसमें श्रीरूपगोस्वामीने रसके नामपर इन सारी वस्तुओंका बड़ा सुन्दर, बड़ा शास्त्रसम्मत पक्ष दिया है । मिलनके पूर्व परस्परमें एक प्रगाढ़ आसक्ति होती है । मिलनके लिये तीव्र उत्कण्ठा होती है, उसे कहा है—रस-शास्त्रोंमें ‘पूर्वराग’ । पूर्वराग क्या है ? पूर्वराग है परस्परमें मिटनेके पूर्व एक दूसरेमें प्रगाढ़ प्रेम, बहुत गहरी प्रीति, चित्तकी आत्यन्तिक अनन्य अनुरक्ति, परम आसक्ति, परानुरक्ति और मिलनकी तीव्रतम उत्कण्ठा—मन्द नहीं, मध्य नहीं, तीव्र नहीं, तीव्रतर नहीं, तीव्रतम उत्कण्ठा—जहाँ जाग्रत् होती है, जिस स्थितिमें उसको कहते हैं—पूर्वराग । पूर्वरागके कई भेद हैं—साक्षात् दर्शन, स्वप्न-दर्शन, बंशी-नाद, वंदीजनद्वारा गुण-श्रवण, नाम-श्रवण, चित्र-दर्शन, दूरसे वाणी-श्रवण, दूतीके द्वारा रूप-गुण-श्रवण, सखीसे गुण-श्रवण, लीलास्थली-दर्शन—ये दस हैं । कई महानुभावोंने आठ माना है, पर ये दसतक जाते हैं ।

इस प्रकार उस भावमें, इस अनुरक्तिमें क्या होता है—मिलनकी उत्कण्ठा, जो दोनोंको अत्यन्त व्याकुल कर देती है ।

तब ये उदीपन और अधिक बढ़ते हैं। अनिर्वचनीय तीव्र व्यग्रताका उदय होता है। चित्त और बुद्धि दो वस्तु होती हैं। पर वह चित्त और बुद्धिकी सीमासे परे होती है जहाँ भगवान्‌का संयोग हो जाता है। हमलोगोंके चित्त, बुद्धि, अहंकार, मन आदि जो हैं, उनमें और भगवान्‌के चित्त, बुद्धि, अहंकार, मनमें बड़ा अन्तर है। हमलोगोंके चित्त, बुद्धि, मन, अहंकार प्रकृतिजनित हैं। भगवान्‌का सब कुछ भगवत्स्वरूप है। भगवान्‌के मनमें, भगवान्‌के चित्तमें, भगवान्‌की बुद्धिमें, जिस भावका उदय होता है, उस भावकी कल्पना हमलोग कर ही नहीं सकते, भगवान् ही करते हैं या उस भावमें जो डूबे हुए उनके प्रेमीजन, गोपाङ्गनाएँ, चैतन्य महाप्रभु आदि ऐसे लोग, उसकी कुछ-कुछ उपलब्धि करते हैं। पूर्वरागका लम्बा विषय है। रास-पञ्चाध्यायीमें इसका संकेत अच्छी तरहसे है। जो सांसारिक प्राकृतिक नायक-नायिका होते हैं, इनमें पूर्वराग विशेषतः नायकमें ही उत्पन्न होता है; किंतु यहाँ अप्राकृतिक नायक-नायिकाका प्रसङ्ग है। श्रीकृष्ण और गोपाङ्गनाओंका प्रेम है, यह प्राकट्य नहीं अप्राकट्य है। भगवान् और भगवान्‌की स्वरूपा-शक्तिकी लीला है। उस लीलामें केवल भगवत्ता-ही-भगवत्ता है, भगवत्-रस-ही-रस है। यद्यपि इनके नाम लौकिक हैं—जैसे मिश्रीकी कड़वी तूँधीकी मूर्ति बना दी जाय, मिश्रीको नीमके पत्तोंका रूप दे दिया जाय, उसे अफीमका रूप दे दिया जाय एवं रूपसे मात्तम हो कि यह नीमका पत्ता है, अफीम है, तूँधी है, कड़वा तूँधा है, पर जब उसे चखने लगेंगे तब मात्तम होगा कि वह कड़वा नहीं, वह महान् मधुर मिश्री है और न चखनेपर भी जाननेवालोंकी दृष्टिमें वह मिश्री है, तूँधा नहीं, उसमें कड़वापन नहीं है।

इसी प्रकार भगवान्‌की अप्राकृतिक रस-लीलामें जो कुछ है, सब-का-सब भगवत्-रसमय है, परंतु हमलोग अपनी प्राकृतिक आँखोंसे, प्राकृत बुद्धिसे, प्राकृत मनसे, प्राकृत

इन्द्रियोसे उस वस्तुको ठीक-ठीक उपलब्ध न करके मोहित हो जाते हैं और उसे एक कामका नीचा, गन्दा रूप दे देते हैं। अतः पहले इस बातको सोच-विचारकर फिर इसमें आगे बढ़ना चाहिये। संसारमें जो प्राकृत नायक-नायिका होते हैं, इनमें प्रायः नायकमें पहले व्यग्रता होती है, परंतु इस अप्राकृत नायक-नायिकामें जहाँ श्रीकृष्ण और गोपियाँ हैं, वहाँ प्रथम पूर्वरागका प्रसङ्ग उदय होता है, गोपिकाओंमें—यह मेद है। श्रीराधा-गोविन्दकी इस मिलन-लीलामें इस रसके जो विश्लेष हैं, उन्होंने पहले श्रीराधिकामें पूर्वरागका वर्णन किया है। उसका कारण यही है कि गोपियोंके साथ श्रीगोपीनाथका मिलन हो। यह नायक-नायिकाकी भाव-प्रीतिसे परिपूर्ण होनेपर भी असलमें प्राकृत नायक-नायिकाकी काम-क्रीड़ा नहीं है। परस्परमें एक-दूसरेमें पूर्णरूपसे मिलनकी वासना होनेपर भी प्राकृत कामकी रमण-इच्छा नहीं है। उनमें नाना प्रकारका हाव, भाव, मंगिमा, विलास, विहारादि होनेपर भी प्राकृतिक विकार नहीं है। गोपियोंके साथ गोपीनाथकी जो लीला है, यह अत्यन्त दिव्य, परम त्यागमय, भुक्ति-भुक्ति-स्पृहासे रहित, प्रेम-गन्दाकिनीकी अनन्त मधुरतम धारा है। इस रस-सुधा-धारामें सच्चिदानन्दघनविग्रह श्रीभगवान् और दिव्य प्रेमघन-विग्रह श्रीगोपाङ्गनाएँ अनादिकालसे ही सुखपूर्वक तैरती हैं। उनका सुख-संतरण अनादिकालीन है, कभी पैदा हुआ हो—ऐसा नहीं, परंतु बीच-बीचमें लीलारस-सिन्धुकी कोई बूँद इस मृत्युलोकमें प्रकाशित होकर उसका एक चित्र अंकित कर देती है। जगत्‌के लोगोंको एक पवित्र प्रेम, प्रेमजनित पवित्र त्याग, शान्ति, सुखका कुछ अनुभव करा देती है—यही इस लीलाकी विशेषता है।

गोपियोंके साथ गोपीनाथकी जो लीला है—इसमें नायक-नायिकाकी काम-क्रीड़ा आदि ऐसी कुछ बातें

लगनेपर भी यह प्रेमीके साथ, भक्तके साथ प्रेमास्पदका—भगवान्का मधुरतम मिलन है। इसमें न भोगवासना है न आत्मेन्द्रियसुख—न अपने इन्द्रियोंको सुख पहुँचानेकी कल्पना है, न इसमें अतिरिक्त वासनाका कोई चित्तपर आघात है। यहाँ है केवल और केवल भक्तका पूर्ण प्रेम और भगवान्का, प्रेमास्पद भगवान्का प्रेमपरिपूर्ण अनुग्रह। गोपियोंकी इस प्रेम-सेवाकाङ्क्षामें, सुखवाञ्छामें नहीं, संसारमें जितनी भी ऐसी वस्तुएँ होती हैं, उनके सामने खसुख-वासना, आत्मेन्द्रिय-प्रीतिकी प्राप्ति—यह उद्देश्य होता है, परंतु यहाँ गोपियोंकी इस लीलामें केवल प्रेमसेवाकाङ्क्षा ही कारण है। गोपियोंकी महान्यागवृत्ति, खसुखवाञ्छा-हीनता एवं उनकी प्रेम-सेवा-आकाङ्क्षाने ही उनको साक्षात् स्वयं भगवान् श्रीकृष्णकी नायिका सुसज्जित करनेका सौभाग्य दिया है। भगवान्का अनुग्रह, उनका प्रेमस्वरूप होना, उनका प्रेम-रसास्वादनके लिये अपने स्वरूपका वितरण करना—इस प्रेमानुग्रहने ही भगवान्को नायक बनाया है।

आज इस वैष्णवादके दिन प्रेमी और प्रेमास्पद, भक्त और भगवान्, प्रेम और प्रेमानुग्रहकी अदम्य प्रेरणासे पूर्वरागका पवित्र उदय करनेके लिये भगवान्का वंशी-निनाद होता है। भक्त और भगवान्में, पहले भक्तके प्रेममें तीव्र सेवाकी आकाङ्क्षा उत्पन्न हुआ करती है। भगवान् तो अनुग्रह करनेके लिये नित्य प्रस्तुत हैं ही, अनुग्रह-स्वरूप हैं ही, भगवान्के उस प्रेमको प्राप्त करनेकी लालसा, उस प्रेमका रस प्राप्त करनेकी कामना—पहले भक्तके हृदयमें जाग्रत होती है। भगवत्कृपा उसमें भी वर्तमान है, उसमें भी भगवत्-प्रेमियोंका सङ्ग कारण है, परंतु भगवान्की ओरसे पहल नहीं होती, प्रेमी भक्तों के लिये ही प्रेमसेवा आकाङ्क्षा

उदय होता है, तब सच्चिदानन्दविग्रह भगवान्में, जो निरीह हैं, निरपेक्ष हैं, इच्छारहित हैं, इच्छा पैदा होती है। उनमें फिर इसी प्रकारके आकाङ्क्षायुक्त मनका निर्माण होता है—यह रासपञ्चाध्यायीमें आता है—
(‘भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः। वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥’) भगवान्ने ‘रन्तुम्’ रमणकी इच्छासे मनका निर्माण किया। इच्छा क्यों उत्पन्न हुई ! श्रीगोपाङ्गनाओंकी इच्छाने उनके मनको इच्छामय बना दिया। सच्चिदानन्दधनविग्रह भगवान्में प्रेमानुग्रहका विकास होता है, उसका कारण होता है—भक्तोंकी, प्रेमियोंकी, गोपाङ्गनाओंकी तीव्र सेवाकाङ्क्षा, मिलनेच्छा। जब ये दोनों हो जाते हैं—उनकी सेवाकाङ्क्षा अदम्य हो गयी और सेवाकाङ्क्षामें सेवारसका आस्वादन करनेकी कृपा जब भगवान्में जाग आयी—दोनों वस्तुएँ जहाँ हुईं, तब भक्त-भगवान्का मधुर मिलन, प्रेमी और प्रेमास्पदका मधुर संयोग हो जाता है। श्रीराधिका आदि, चन्द्रावली आदि भगवान्का स्वरूप होते हुए भी यहाँ लीलामें ये प्रेमियोंमें शिरोमणि हैं। नारदजी इसी-लिये प्रेमका वर्णन करते हुए भक्तिका रूप बताते हैं—
‘यथा प्रजगोपिकानाम्’।

सर्वस्व भगवान्के अर्पण, सर्वत्याग करके लोक-परलोक, मुक्ति-मुक्ति, सबके संकल्पका, सबकी कल्पनाका सर्वथा त्याग करके केवल भगवान्के, प्रियतमके, प्रेमास्पदके मधुर स्मरणमें ही वे अपने जीवनको रँग देती हैं। उनका जीवन स्वभावगत स्मरणमय हो जाता है, भ्रमभरके लिये भी उनकी विस्मृति सहन नहीं होती। ‘तद्विस्मरणे परमव्याकुलता’ का वहाँ उदाहरण देते हैं—यह हुआ कहाँ ! नारदजी कहते हैं—‘यथा ब्रजगोपिकानाम्’—जैसे ब्रजकी गोपाङ्गनाओंमें हुआ। श्रीराधिका आदि जो श्रीकृष्णकी प्रेमियों हैं, प्रेमी भक्तों हैं, प्रेमी भक्तों हैं और ये

मधुर रसके द्वारा जब भगवान्की सेवा करनेके लिये—प्रियतम भगवान्की सेवाके करनेके लिये जब पूर्णरूपसे समुत्कण्ठित हो जाती हैं, इनकी सेवाकाङ्क्षा तीव्र होकर इनके चित्तको उद्बलित कर देती है, उस समय भगवान्का चित्त भी उद्बलित हो जाता है, भगवान् भी मिलनेके लिये आतुर हो जाते हैं, तब इनका शुभ प्रेमका मधुर मिलन होता है। यहाँ ये परमहंसशिरोमणि शुकदेवजी मामूली वक्ता नहीं हैं, व्याख्यानदाता नहीं हैं, ये परमहंसशिरोमणि हैं।

ऐसे जो शुकदेवजी वंशी-निनादसे कृष्णानुरागिणी महाभागिनी ब्रजविलासिनी ब्रजाङ्गनाओंके चित्तमें किस प्रकारकी मिलनकी तीव्रतम उत्कण्ठा जाग्रत हुई, इसका वर्णन कर गोपियोंके पूर्वरागका संकेत करते हैं। आनन्दघन-विग्रह प्रेमघनविग्रह, रसराजशिरोमणि ब्रजेन्द्र-नन्दन जब शरत्कालीन वनशोभाको देखनेके लिये वनभ्रमणमें प्रवृत्त हुए, जब इन्होंने वंशीनिनाद किया,

तब ब्रजविलासिनी गोपाङ्गनाएँ अपने घरोंमें बैठी उसे सुन पायीं। यह नहीं कहा जा सकता कि वंशी-निनाद उन सबके कानोंमें समान रूपसे पहुँचा, परंतु उन्होंने ज्यों ही सुना, त्यों ही वे विवश हो गयीं, उनके सुगुप्त अत्यन्त रहस्यमय हृदय-प्राङ्गणमें प्रेम-रसका आविर्भाव हो गया; उनके अङ्ग-प्रत्यङ्गमें प्रेमका उदय हो आया और वे अपने भावको संवरण करनेमें असमर्थ हो गयीं। तब वे उस भारको हल्का करनेके लिये, अंदरके भावरूपी भारको हल्का करनेके लिये, भावलाघवके लिये अपनी-अपनी अत्यन्त अन्तरङ्ग सखियोंसे उनके सामने वे कुछ-कुछ कहने-बोलने लगीं। असलमें जो वंशी-रव है न, यह वंशीध्वनि अनुरागका नित्य सहचर है, प्रेममें नित्य साथ रहता है, जगाता है। जिसके हृदयमें श्रीकृष्णका अनुराग है, वंशीरव जब कानोंके द्वारा उसके हृदयमें प्रविष्ट होता है, तब वह सुप्त, गुप्त और छिपे हुए अनुरागको जगा देता है।

—कमशः

आत्म-निवेदन

(रचयिता—स्वामी श्रीसनातनदेवजी)

तुम ज्यों रखिहो त्यों रहिहों।

जो कछु मोहिं सहावहुगे सो सब मैं सिर धरि सहिहों ॥
 आवें कोटि आपदा तोहूँ तुमहिं न लालन ! जहिहों ॥
 जो-जो पन्थ गहावहुगे सो-सो ही दृढ़ करि गहिहों ॥
 तुम्हरो मन ही है मेरो मन, अपुनी कछु न कहिहों ॥
 तुम्हरे सुखमें सदा सुखी रहि निज सुख कबहुँ न चहिहों ॥
 मेरे जीवनके जीवन तुम, तुमसों कहा न लहिहों ॥
 तुम्हरी सुरति-सुधा रसि-रसि पिय ! हियमें सतत उमहिहों ॥
 तुममें बलि-बलि जाय नाथ ! निज निजता सबहि विहहिहों ॥
 केवल-केवल प्राननाथ ! तव प्रीतिपात्र है रहिहों ॥
 तुम ही तुम रहिहो फिर प्यारे ! अपुनो पतो न पढ़िहों ॥
 तुम्हरी पावन प्रीति पाय पिय ! ताहीमें रमि जइहों ॥

भागवतीय प्रवचन—१०

श्रीशुकदेवमुनिका सगुणब्रह्ममें चित्ताकर्षण

(संत श्रीरामचन्द्र डोंगरेजी महाराज)

प्रसादकी प्रसादी करते अजीर्ण हो जाय, इतना प्रसाद नहीं लेना चाहिये । भगवान् योगी हैं, भोगी भी हैं, परंतु यह जीव भोगी है, योगी नहीं है । इसलिये भगवान् छप्पन भोगका भोग लगायें तो भी कोई हानि नहीं है । हमसे ऐसा नहीं हो सकता । त्यागसे अलौकिक शक्ति आती है । विषय-भोग हमारे हाथसे निकल जाय, छूट जाय तो दुःख होता है और विषय-भोगके प्राप्त होने पर हमें आनन्द होता है, पर वह अनित्य और अन्तमें दुःखदायी सिद्ध होता है । शुकदेवजीमें सोलह आने वैराग्य है, अतः वे उत्तम वक्ता हैं । त्यागसे उनमें अलौकिक वक्तृत्व-शक्ति आ गयी है ।

महाप्रभुजीने कहा है कि भागवतमें समाधिभाषा मुख्य है । ईश्वरके ध्यानमें जिसे थोड़ा-सा भी आनन्द आता है, उसे भागवतका अर्थ शीघ्र समझमें आता है । व्यासजीने एक-एक लीलाका प्रत्यक्ष दर्शन किया है । व्यासजीने अन्तर्दृष्टिसे यह सब देखा है । भगवान् का स्वरूप अलौकिक है । अपनी आँखें लौकिक हैं । अतः लौकिक आँखें अलौकिक ईश्वरको नहीं देख सकतीं । बाहरकी आँखें बंद करनेपर अंदरकी आँखें खुलती हैं । तभी परमात्माका दर्शन होता है ।

सूतजीने कहा कि व्यासजीने अठारह हजार श्लोकोंका यह भागवत-ग्रन्थ बनाया । व्यासजीको लगा कि अब हमारा अवतार-कार्य पूरा हो गया । जो मेरे भागवतका आश्रय लेगा, उसको कलिका भय नहीं लगेगा, परंतु व्यासजीको एक चिन्ता हुई कि ग्रन्थ तो मैंने बना दिया, किंतु इसका प्रचार कौन करेगा ! इस ग्रन्थमें मैंने सब कुछ भर दिया है । यह भागवत प्रेमशास्त्र है ।

मायाके साथ, संसारके साथ प्रेम करनेवाला भागवत-शास्त्रका प्रचार नहीं कर सकेगा । जन्मसे जिसका मायासे संसर्ग नहीं हुआ है, वही इस ग्रन्थका प्रचार कर सकेगा । भागवत परमहंस-संहिता है । श्रीकृष्ण तो महापरमहंस हैं । प्रह्लाद, भरत, ऋषभदेव आदि सब परमहंस हैं । अतः निर्विकारी ही इस ग्रन्थका प्रचार कर सकता है । बहुत सोचनेपर व्यासजीको लगा कि ऐसा योग्य तो मेरा पुत्र ही है । शुकदेवजीको रम्भा भी चलायमान न कर सकी ।]

नारियोंमें श्रेष्ठ तो रम्भा ही है । ऐसी रम्भा शुकदेवजीको विचलित करने आयी थी । शुकदेवजीने कहा—
‘वृथा गतं तस्य नरस्य जीवनम् ।’

शुकदेवजी कहते हैं कि विषयभोगीका जीवन वृथा है । देवी सुनो—किसका जीवन वृथा है—

नारायणः पङ्कजलोचनः प्रभुः
केयूरहारैः परिशोभमानः ।
भक्त्या युतो येन सुपूजितो नहि
वृथा गतं तस्य नरस्य जीवनम् ॥

‘नीलकमलसे सुन्दर जिनके नेत्र हैं, जिनके आकर्षक अङ्गोंपर केयूर, हार आदि अलङ्कार शोभायमान हैं, ऐसे सर्वान्तर्यामी नारायण प्रभुके चरणकमलोंमें जिसने भक्ति-पूर्वक स्त्रियोंको अर्पण करके इस आवागमनके चक्रको नष्ट नहीं किया, ऐसे लोगोंका मनुष्यदेह-धारण करना व्यर्थ है ।’ ऐसे लोगोंका जीवन वृथा ही है ।

श्रीचित्सलक्ष्मीकहत्प्रदेश-

स्तार्क्ष्यध्वजश्चक्रधरः परात्मा ।
न सेवितो येन क्षणं मुकुन्दो
वृथा गतं तस्य नरस्य जीवनम् ॥

जिनके वस्त्र-स्थलपर लक्ष्मीजी शोभायमान हैं, जिनकी ध्वजामें गरुडजी विराजित हैं, जो सुदर्शन चक्रधारी हैं, ऐसे परमात्मा मुकुन्द भगवान्‌का जिसने क्षणमात्र भी स्मरण नहीं किया, ऐसे मनुष्यका जीवन वृथा ही मानो ।

रमाने अब नारी-देहकी अति प्रशंसा की, तब शुकदेवजीने उससे कहा, 'स्त्रीका शरीर इतना सुगन्धयुक्त और सुन्दर होता है, यह तो मैंने आज ही जाना । मुझे तो पहले जानकारी ही न थी कि स्त्रीका शरीर इतना सुन्दर है । परमात्माकी प्रेरणासे यदि अब मुझे जन्म लेना होगा तो मैं तेरी-जैसी माता ही पसंद करूँगा ।'

शुकदेवजी जन्मसे ही निर्विकारी हैं । जिस पुत्रने जन्मके समय ही पितासे कहा कि आप मेरे पिता नहीं हैं और मैं भी आपका पुत्र नहीं हूँ, ऐसे शुकदेवजी (पुत्र) घर आयें तो कैसे ? शुकदेवजी जन्मसिद्ध योगी हैं । जन्म हुआ कि तुरंत ही उन्होंने तपश्चर्याके लिये वनकी ओर प्रयाण किया । शुकदेवजी सदा ब्रह्म-चिन्तनमें लीन रहते थे । उन्हें वनसे बुल्यें कैसे ? वे वनमेंसे घर आयें तो मैं उनको भागवत-शास्त्र पढ़ाऊँ और फिर वे इसका प्रचार करें—व्यासजीको यह विचार आया । श्रीकृष्णके स्वरूपका वर्णन नहीं हो सकता । भगवान्‌के स्वरूपका कौन पार पा सका है । योगी उन प्रभुका कुछ अनुभव करते हैं । कारण यह है कि—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन ॥

अर्थात् उसकी थाह लेनेके लिये जानेवाला मन भी वाणीसहित वापस लौट आता है । श्रीकृष्णका स्वरूप अद्भुत है । योगियोंके चित्तको भी आकर्षित करता है । ऐसा वह स्वरूप है तो वह कन्हैया शुकदेवजी-जैसे योगीको क्यों नहीं आकर्षित करेगा ? शुकदेवजी निर्गुण ब्रह्मके चिन्तनमें लीन थे । उसमेंसे उनके चित्तको हटाने,

सगुण ब्रह्मकी ओर उसे खींच लानेके लिये श्रीकृष्णलीलाके श्लोक सुनाने चाहिये । श्रीव्यासजीने उन श्लोकोंका काँई और ही जादुई प्रभाव निश्चित किया । व्यासजीके शिष्योंको जंगलमें, जब वे दर्भ-समिधा लेने जाते, तब हिंसक पशुओंका भय लगता । उन्होंने यह बात व्यासजीसे कही । व्यासजीने कहा—'जब-जब तुमलोगोंको भय लगे तब-तब भागवतके इन श्लोकोंका पाठ किया करो । श्रीकृष्ण मेरे साथ हैं, ऐसा विचार करो । ईश्वर सतत हमारे साथ है, ऐसा विचार करोगे और अनुभव करोगे तो तुम निर्भय बनेंगे । राधारमण श्रीकृष्णका स्मरण करो ।' उसके बाद जब ऋषिकुमार वनमें जाते, तब 'बर्हापीडम्' आदि श्लोक बोलते तो वनमें हिंस्र—वाघ आदि सब पशु वैरको भूल जाते और शान्त बन जाते थे । पशुओंके मनपर भी इन श्लोकोंका प्रभाव पड़ता है, परंतु दुःखकी बात यह है कि आज मनुष्योंपर इनका प्रभाव नहीं पड़ रहा है । जिन मन्त्रोंसे पशुओंका आकर्षण हुआ, उनसे शुकदेवजीका आकर्षण कैसे नहीं होता । देहका भान भूले नहीं, तबतक देवका दर्शन नहीं होता है । शुकदेवजी ज्योतिर्मय ब्रह्मका चिन्तन करते हैं, उनको देहाभिमान नहीं है । शुकदेवजी परमहंसोंके आचार्य हैं, इसलिये ब्रह्मचिन्तन करते हैं । उनके मनका आकर्षण करनेके लिये व्यासजीने युक्ति सोची । व्यासजीने शिष्योंसे कहा कि 'शुकदेवजी जिस वनमें समाधिमें बैठें हों वहाँ तुमलोग जाओ और उन दो श्लोकोंको उन्हें सुनाओ । शुकदेवजीका हृदय गङ्गाजल-जैसा शुद्ध है । जल शुद्ध और स्थिर हो तो उसमें शुद्ध प्रतिबिम्ब पड़ता है । अपने हृदयरूपी दर्पणपर बहुत मल लग गया है । इसे एकदम खच्छ करनेकी आवश्यकता है । इसे खच्छ करो जिससे उसमें परमात्माका प्रतिबिम्ब पड़े । अपने हृदयमें हजारों जन्मोंका मैल भरा है । इसलिये हृदयरूपी दर्पणको खूब रगड़ो और इस मैलको दूर करो । मैलको दूर करनेसे परमात्माका प्रतिबिम्ब उसमें

पड़ेगा । अतः शुद्ध बनो । शब्दमेंसे रूपका दर्शन होता है । नामसृष्टि पहले और रूपसृष्टि उसके बाद हुई । शिष्य आज्ञा पाकर उस वनमें गये । शुकदेवजीका चित्त आकर्षित करनेके लिये शिष्य श्लोकोंका गान करने लगे । शुकदेवजी स्नान-संख्या करके समाधिमें बैठनेकी तैयारीमें थे । यदि वे समाधिमें बैठ जाते और समाधि लब्ध जाती तो श्लोक नहीं सुन पाते । अतः शिष्योंने तुरंत ही गान प्रारम्भ किया —

वर्हापीडं नटवरचपुः कर्णयोः कर्णिकारं

विभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम् ।

रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दै-

वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः ॥

(श्रीमद्भा० १० । २१ । ५, वेणुगीत)

‘श्रीकृष्ण गोपबालकोंके साथ वृन्दावनमें प्रवेश कर रहे हैं । उन्होंने मस्तकपर मोरमुकुट धारण किया है और कानोंपर कनेरके पीछे-पीछे पुष्प, शरीरपर पीला पीताम्बर और गलेमें पाँच प्रकारके सुगन्धित पुष्पोंसे बनी वैजयन्ती माला पहने हुए हैं । रंगमञ्चपर अभिनय करनेवाले श्रेष्ठ नट-जैसा क्या ही सुन्दर वेष है । बाँसुरीके छिद्रोंको वे अपने अधरामृतसे भर रहे हैं । उनके पीछे-पीछे गोपबालक इनकी लोकपावन कीर्तिका गान कर रहे हैं । इस प्रकार वैकुण्ठसे भी श्रेष्ठ यह वृन्दावनधाम इनके चरण-चिह्नोंसे अधिक रमणीय बना है ।’ मोर श्रीकृष्णको प्यारा लगता है । मोर काम सुखको इन्द्रियोंसे नहीं भोगता है । संसारके कामसुखको भूलनेवाला ही ईश्वरका दर्शन कर सका है । प्रभुके साथ मैत्री करनी हो तो ‘काम’ के साथ मैत्री छोड़नी होगी । ज्ञानी ललाटमें दृष्टि स्थिर करके वहाँ ब्रह्मका दर्शन करते हैं और वैष्णव हृदयमें श्रीकृष्णका दर्शन करते हैं । शुकदेवजीने श्लोक सुने । श्रीकृष्णका स्वरूप मनोहर लगा । शुकदेवजीको ध्यानमें अति-आनन्द आता

है । वाह ! मेरे प्रभु ! उन्होंने तुरंत निश्चय किया कि निराकार ब्रह्मका चिन्तन नहीं करेंगे, अब सगुण-साकारका चिन्तन करेंगे; परंतु सोचा कि सगुण ब्रह्मकी सेवामें सब वस्तुओंकी अपेक्षा रहती है । कन्हैया तो मिश्री-माखन माँगेगा । मैं यह कहाँसे लाऊँगा ! मेरे साथ तो कुछ है नहीं । मैं निर्गुण ब्रह्मका उपासक हूँ । मैंने तो लँगोटीका भी त्याग किया है । यह कन्हैया तो बहुत माँग करेगा, वह सब मैं वहाँसे लाऊँगा ! यशोदाके घरमें माखन क्या कम था ! फिर भी कन्हैया कहता था, माँ, मुझे घरका माखन अच्छा नहीं लगता । मुझे बाहरका माखन अच्छा लगता है । गोपियोंके माखनमें नहीं, गोपियोंके प्रेममें मिठास थी । गोपियोंके प्रेममें स्वाद था । यह कन्हैया तो माँगकर प्रेमसे भोग लगाता है । वह मुझे कहेगा कि तुम माखन लाओ, मिश्री लाओ तो यह सब मैं कहाँसे लाऊँगा ! निराकार ब्रह्मको कुछ देना नहीं पड़ता, इसलिये मेरे लिये तो यही उत्तम है । किसी वस्तुकी आवश्यकता नहीं है । इस प्रकार शुकदेवजी विचार कर रहे थे । वहाँ व्यासजीके शिष्योंने दूसरे श्लोकका गान प्रारम्भ किया—

अहो बकी यं स्तनकालकूटं

जिज्ञांसयापाययदप्यसाध्वी ।

लेभे गतिं धाव्युचितां ततोऽन्यं

कं वै दयालुं शरणं ब्रजेम ॥

(श्रीमद्भा० ३ । २ । २३)

‘अहो ! आश्चर्य है कि दुष्ट पूतनाने स्तनोंमें विष भरकर जिनको मारनेकी इच्छासे ही दुग्धपान कराया था, उस पूतनाको भी उन्होंने ऐसी गति दी, जो उसे किसी धायको देनी चाहिये थी; अर्थात् उसे सद्गति दी । भगवान् श्रीकृष्णके सिवा ऐसा कौन दूसरा दयालु है कि जिसकी शरण ग्रहण करें अर्थात् उन-सा दयालु कोई

दूसरा नहीं है ।' पूतना स्तनोंमें विष लगाकर आयी थी । ईश्वरके धाममें आयी है । वासनाका विष मनमें रखकर हृदयमें रखकर, मनुष्य परमात्माके सम्मुख जाता है, उसे परमात्माका दर्शन नहीं होता । पूतना विष लगाकर तो आयी; परंतु मातृ-भावना लेकर आयी थी । माताका काम किया था पूतनाने । इसलिये उसे यशोदा-जैसी गति दी है । विष देनेवाली पूतनाको भी मेरे प्रभुने सद्गति दी थी । मेरे प्रभुको माखन-मिश्री की तो क्या, किसी भी वस्तुकी आवश्यकता नहीं है । वे केवल प्रेम चाहते हैं । 'प्रेमके वश अर्जुन रथ हाँक्यो, भूल गये ठकुराई', प्रेमसे वशमें करके अर्जुनने महाभारतके युद्धमें अपना रथ चला लिया । वहाँ प्रभु अपनी ठकुराई भूल गये । पदार्थसे प्रसन्न हो, वह जीव और प्रेमसे प्रसन्न हो वह ईश्वर । प्रेम करने योग्य एक परमात्मा ही हैं । ऐसे परम कृपालुको छोड़ मैं किसकी शरणमें जाऊँ ।

शुकदेवजीके मनमें शङ्का थी कि कन्हैया जब माँगोगा, तो मैं क्या दूँगा ? उस शङ्काका निवारण हुआ । शुकदेवजी इधर-उधर देखने लगे कि यह श्लोक कौन बोल रहे हैं । वहाँ उन्हें व्यासजीके शिष्योंका दर्शन हुआ । शुकदेवजीने उनसे पूछा कि आप कौन हैं ? आप जो श्लोक बोल रहे थे वे किसके रचे हुए हैं ? शिष्योंने कहा—हम व्यासजीके शिष्य हैं । व्यासजीने हमें ये मन्त्र दिये हैं । ये दो श्लोक तो उदाहरणके लिये हैं, दूसरे श्लोक 'गोदाम'में भरे रखे हैं । व्यास भगवान्ने ऐसे श्लोकोंसे भरपूर श्रीभागवतपुराणकी रचना की है । शुकदेवजीने पूछा कि ऐसे कितने श्लोक उन्होंने

बनाये हैं । शिष्योंने कहा कि ऐसे अठारह हजार श्लोक उन्होंने बनाये हैं । आँखें खुली रहते भी इन श्लोकोंसे समाधि लगती है । आँखें बंद हों और समाधि लगे, यह बात आसान है । पर यहाँ तो आँख खुली हो और समाधि लगे, ऐसी समाधि लगती थी । 'साधो सहज समाधि भली ।' शुकदेवजीने सोचा व्यासजी मेरे पिता हैं, मैं उनका उत्तराधिकारी हूँ । मैं पिताके पास जाकर यह पुराण सुनूँगा ।

आज शुकदेवजीको भागवतशास्त्र पढ़नेकी इच्छा हुई । कन्हैयाकी लीला सुनकर उनका चित्त आकर्षित हुआ है । योगियोंका मन भी इस कृष्णकथासे खिंचता है । निर्ग्रन्थ शुकदेवजीको भागवतशास्त्र सुननेकी और अध्ययन करनेकी इच्छा हुई । भागवतके श्लोक सुनकर शुकदेवजीका चित्त आकर्षित हुआ । निर्गुण ब्रह्मका उपासक सगुण ब्रह्मके पीछे पागल हो रहा है । बारह सालके बाद आज शुकदेवजी व्यासजीके आश्रममें दौड़ते हुए आये हैं । शुकदेवजीने व्यासजीको साष्टाङ्ग दण्डवत्-प्रणाम किया । व्यासजीने शुकदेवजीको छातीसे लगाया और कृतार्थ होते हैं । व्यासजीने शुकदेवजीको भागवतका अध्ययन कराया और इस प्रकार व्यासजीकी चिन्ताका अन्त हुआ कि भागवतपुराणका प्रचार कैसे होगा ? इस ग्रन्थका सच्चा अधिकारी आत्माराम है, कारण, श्रीकृष्ण सबके आत्मारूप हैं । विषयारामको इस ग्रन्थको सुननेकी इच्छा ही नहीं होती है । यह दिव्य ग्रन्थ है । इस ओर श्रीशुकदेवजीका भी चित्त खिंच गया है ।

कीर्तनप्रेमी कबीर

(लेखक—डॉ० श्रीभुवनेश्वरप्रसादजी वर्मा 'कमल', एम्० ए०, डी० लिट्)

(गताङ्क ६, पृ०-सं० ७२५ से आगे)

कीर्तन केवल ढोल-झाल लेकर ही नहीं किया जाता । नारद और चैतन्यके कीर्तनका ढंग अलग है और कबीरका ढंग अलग । कबीरका राम-नामसे इतना प्रेम है कि जो रामका नाम लेता है, वे उसकी बलिहारी जाते हैं—
'जे जन लेहि राम को नाऊँ । ताकी मैं बलिहारी जाऊँ ॥'
वे रामतापिन्युपनिषद्के इस वाक्यमें विश्वास रखते हैं कि 'यश्चाण्डालोऽपि रामेति वाचं वदेत्, तेन सह संवसेत्, तेन सह संवदेत्, तेन सह सम्भुञ्जीयात्' अर्थात् 'यदि चाण्डाल भी 'राम' नामका उच्चारण करता है तो उसके साथ निवास किया जाय, उसके साथ बातचीत की जाय, यहाँतक कि उसके साथ बैठकर भोजन भी किया जाय ।'

कबीर राम-नामके ऐसे प्रेमी हैं कि आजके विभिन्न सम्प्रदायवाले भक्त जिस प्रकार अपने शरीरके विभिन्न अङ्गोंपर राम-नामका छाप लगाते हैं, वैसा करनेको तैयार हैं, तैयार क्या हैं—उन्होंने वैसा कर लिया है, अर्थात् छाप लगा लिया है, पर बाहरसे नहीं, अंदरसे—ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार हनुमान्जीने अपने हृदयके भीतरी प्रकोष्ठमें सीतारामकी युगल-जोड़ीको बिठा लिया था । कबीर कहते हैं—

'तेनना बुनना तजा कबीरा, राम नाम लिख लिया सरीर ।'

इससे बड़ा नाम-प्रेमी और इससे श्रेष्ठ कीर्तन-प्रेमी और कौन हो सकता है ? कबीरको निर्गुण राम और अवतारी रामसे कोई झगड़ा नहीं, कोई भेद-भाव नहीं । वे केवल बाहरी दिखावा, बाह्याङ्ग, ढकोसला, पोंगापंथी और दम्भ-पाखण्डसे घृणा करते हैं । उनका विश्वास है—'रामनाम' और 'रामकृपा'के बिना भवसागरके पार जाना असम्भव है, अतः 'करका मनका

छाड़ि कै मनका मनका फेरा जाय ।' तबतक तीर्थ-व्रत करने और शरीरको यातना देनेसे मुक्ति नहीं मिल सकती, जबतक 'रामनाम'से प्रीति करके 'रामकृपा'का अवलम्बन न लिया जाय । वे कहते हैं—

इक तीरथ व्रत करि काया जीति । ऐसे राम नाम सुँ करै प्रीति ॥
इक धूम धोटितन हूँहि स्याम । यूँ मुक्ति नहीं बिन राम नाम ॥
जरा मरण थै भए कबीर । राम कृपा भइ कहीं कबीर ॥

कबीर पक्के वैष्णव हैं । वे स्पष्ट शब्दोंमें कहते हैं—
कबीर साखि ब्राह्मन मति मिलै, बेस्नो मिलै चाण्डाल ।
अंकमाल है भेटिया, जानू मिलै गोपाल ॥
कबीरको दो ही व्यक्तियोंसे प्रेम है—एक 'वैष्णव'से दूसरे 'राम' से । वे कहते हैं—

कबीर मेरे संगी दोइ जन, एक बेस्नो एक राम ।
को है दाता मुकुटिका, वै सुमिरावै राम ॥
तथा—

चंदन की कुटकी भली, ना बबूलकी अँबराऊँ ।
बेस्नो की छतरी भली, ना साखत कौ बड़गाऊँ ॥

नामप्रेमी कबीर अपने उपास्य-देव 'राम' के नामोंका 'सुमिरन' ही नहीं करते, अपितु जोर-जोरसे चिल्ला-चिल्लाकर उनका 'कीर्तन' भी करते हैं । रामके नामको पुकारते-पुकारते उनकी जिह्वामें छाले पड़ गये हैं । वे कहते हैं—

आँखडिया झाँई पड़ी पंथ निहार निहार ।
जीहँडिया छाला पड़ा नाम पुकार पुकार ॥

कबीरकी दृष्टिमें रामनामके गुणोंका गान अर्थात् कीर्तन करनेसे भक्तिके साथ मुक्तिकी भी प्राप्ति होती है । वे कहते हैं—

चरन कँवल चित लाइये, राम नाम गुन गाइ ।
कहै कबीर संसा नहीं भगति मुक्ति गति पाइ ॥

यहाँ ध्यातव्य है कि 'चरण कमल', 'नाम' और 'गुण' सगुण-साकार ब्रह्मके ही हो सकते हैं, निर्गुण-निराकार ब्रह्मके नहीं। इसी सगुण-साकार और अवतारी पुरुष 'राम'के नामके जापक, श्रोता, वक्ता, सुमिरनकर्ता और कीर्तनकार हैं कवीर। कवीरकी दृष्टिमें 'हरि' का नाम ही तीनों लोकोंमें सार-तत्त्व है। जो भवसागर पार होना चाहे, नाम-कीर्तनके द्वारा सहज ही पार हो सकता है। वे कहते हैं—

हरि को नाउँ तत त्रिकोक सार।

लै लीन भये जे उतरे पार ॥

जैसे गोखामी तुलसीदासजीने कहा है—'नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं', उसी प्रकार कवीरका विश्वास है कि अथाह जलसे परिपूर्ण भव-सागरसे पार जानेके लिये राम-नाम ही एक मात्र 'बोहित' है। उस 'हरि'-की शरणमें जानेपर वह भव-सागर अनायास ही 'गोपद-खुर' की लघुतम सीमामें सिमट जाता है। कवीर कहते हैं—

भौ सागर अथाह जल तामे बोहिय राम अधार।

कहै कवीर हम हरि सरन तब गोपद खुर बिस्तार ॥

कवीरकी सगुणोपासना इससे भी सिद्ध होती है कि वे 'राम'को अपना (जीवात्माका) 'भरतार' और अपनेको उसकी 'नारी' (अर्थात् पत्नी) मानते हैं। वे कहते हैं—

बालहा आओ हमारे गेह रे।

तुम बिन दुखिया देह रे ॥

सब कोइ कहै तुम्हारी नारी, मोको यही संदेह रे।

बुकमेक है संग न सोचौ, तब लगि कैसा नेह रे ॥

भला जो ब्रह्म अव्यक्त है, अरूप है, अनाम है, उसके साथ रतिभाव या दाम्पत्य-भाव कैसे सम्भव है? क्या मीराके भी 'मेरो मुकुट'वाले 'पति' अव्यक्त और निर्गुण ही थे? जिनसे मिलनेके लिये मीरा जीवनभर तड़पती रही और कहती रही—

सूली ऊपर सेज हमारी, सोणा किस बिध होय।
मेरो तो तब दरद भिटै, जब वैद सँवरिषा होय ॥

मीरा और कवीरका दाम्पत्य-भाव एक-सरीखा है। जैसे मीराने कहा है—

मेरो तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई।

जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई ॥

उसी प्रकार कवीर कहते हैं—

दुलहिनि गावहुँ मंगलचार।

हमारे घर आये राजा राम भरतार ॥

ध्यातव्य है कि कवीरके राम केवल उनके 'भरतार' अर्थात् पति ही नहीं, अपितु राजा (त्रिभुवनपति) भी हैं। नामदेव, जिनका स्मरण कवीरने आदर्श भक्तके रूपमें किया है, कहते हैं—

मैं बौरी मेरा राम भतार।

रचि रचि ताकौ करौ सिंगार।

स्पष्ट है कि जो मीराके 'पति' और नामदेवके 'भरतार' हैं, वे ही कवीरके भी 'भरतार' और 'पीव' (घूँबटके पट खोल रे, तोहे 'पीव' मिलेंगे) हैं। ऐसे 'भरतार', 'पीव' और साँई (स्वामी-पति) (साँई का सियत मास दस लागे) का नाम ही भवसागर पार जानेकी दीर्घ नौका है। तुलसी (राम नाम बोहित भवसागर चाहे तरन तरौ सौ) तथा सूरदास—

(अगम सिंधु निज तनु सजि नौका, हठि क्रम भारत भरत।
सूरदास के इहै व्रत क्रिसन भजि, भव जलधि तरत ॥')—

की भाँति कवीर भी रामनामको भवसागरसे पार जानेका एकमात्र साधन मानते हैं। वे कहते हैं कि जब राम-नामकी नौकाका अवलम्ब ग्रहण कर लिया, तब भवसागर-का पंक क्या, जल भी हमारा स्पर्श नहीं कर सकता—

राम नाम नौका गहा, तब पानी पंक न लाग।

नामकी महिमा गाते और भगवन्नामकी कीर्तन करके कवीर अघाले नहीं। वे बार-बार उनकेकी चोटसे कष्ट देना चाहते हैं कि—

कासी कांठे घर करै पीवै निरमल नीर ।
मुक्ति नहीं नांव बिन यूँ कहे दास कबीर ॥
कबीरके जीवनका एक ही उद्देश्य है—संतोंकी
मण्डली और भक्तोंकी भीड़में बैठकर गोविन्दके गुणोंका
गान अर्थात् कीर्तन करना । वे कहते हैं—

सब थैं नीकी संत मंडलिया, हरि भगतनि के भेरो रे ।
गोव्यंद के गुण बैठ गैहैं, (खेहौं) दूको टेरो रे ॥

जब रामनामके प्रतापसे समुद्रमें पाषाण तैरने लगा
था (‘सिधु तरे पावान’), तब रामनामके प्रतापसे
कबीरद्वारा निर्मित ‘भेरा’ (वेड़ा) क्यों न तरेगा ?
वे कहते हैं—

भौ बूढ़त कछु उपाय करीजै, जूँ तिरि लवै तीरा ।
राम नाम लिखि भेरा बांधौ, कहै उपदेश कबीरा ॥

कबीर समय रहते सबको चेतावनी भी दे
देना चाहते हैं कि देखो, कीर्तन करनेके समय तुम्हारा
ध्यान ‘जंत्र’ (बाह्य-जगत्) पर नहीं, ‘जंजी’ (ईश्वर)-
पर होना चाहिये, ढोल-झालपर नहीं, भगवान्के नाम-
गुणपर होना चाहिये । वे कहते हैं—

कहै कबीर सोई जन साँचा, जंजी सँ प्रीति लगावै ।
तथा—

बाजै जंत्र बजावै गुनी । राम नाम बिन भूली दुनी ॥

कबीरको वही भगवद्भक्त प्रिय है, जो पवित्र रामनाम-
के गुणोंका (कीर्तन) गान करता है । वे कहते हैं—
निर्मल निर्मल राम गुण गावै । सो भगता मेरो मन भावै ॥

उन्हें वैसे ही भक्तों और साधुओंकी संगतिमें रहकर
हरिनामके गुणोंका कीर्तन करना अभीष्ट है—

असत संगति जिन जाइ रे भुलाई ।

साधु संगति मिलि हरि गुण गाई ॥

नाम-कीर्तनप्रेमी नारदकी भाँति कबीरको भी इस
भगवद्वाक्यमें विश्वास है—

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च ।

मङ्गला यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ॥

इसलिये कबीर रामनामका गुण गाते और हरिनामका
कीर्तन करते थकते नहीं । नारदभक्तिसूत्रमें कहा गया
है कि भगवान्के प्रेममें मग्न होनेवाला मूक हो जाता
है, वह उस प्रेमरसका आस्वादन मन-ही-मन करता है,
उसका वर्णन नहीं कर पाता है—गूँगेके गुड़की
भाँति—‘मूकास्वादनवत्’ । कबीर कहते हैं—

गावणहारा कदे न गावै, अण बोल्या नित गावै ।

अर्थात् जोर-जोरसे चिल्लानेसे ही कीर्तन सम्पन्न
नहीं हो जाता, उसके लिये तो सम्पूर्ण कामनाओं और
वासनाओंका परित्याग कर मनको पवित्र कर लेना होता
है, तभी हरिनाम-कीर्तन पूर्णतया फलीभूत होकर अभय-
पद प्रदान करता है । कबीर कहते हैं—

परिहरि काम राम कहि बौरे, सुनि सिख बंधू मोरी ।
हरि कौ नाउँ अभय पद दाता, कहै कबीरा कोरी ॥

सिक्खोंके गुरुग्रन्थसाहिबमें भगवद्भक्तोंमें दोके
नाम बड़े आदरके साथ लिये गये हैं—एक, दक्षिण
भारतमें ‘विठ्ठल’ के बंदा दरजी (नामदेव) का और
दूसरे, उत्तर भारतमें रामचरणके बंदा कबीरका—

दखन स्थाने नाम दरजी उनोका विठ्ठल बंदा है ।

उत्तर म्याने भयो कबीरा रामचरण को बंदा है ॥

किसी आलोचकने भक्तिकालके प्रमुख भक्त कवियोंमें
सूर और तुलसीके बाद कबीरका ही नाम लिया है—

तत्व तत्व सूर कहीं, तुलसी कही अनुठि ।

बची खुची कबिरा कही, और कही सब झुठि ॥

कबीरके प्रति उल्लिखित उपर्युक्त उद्गारोंसे भक्त
कवियोंमें कबीरका महत्त्व अनायास सिद्ध हो जाता है ।
निश्चय ही कबीर अपनी निरुद्ध और अविच्छिन्न भक्ति
तथा हरिनामके प्रेमी गायक और कीर्तनकार होनेसे
भक्तों और साहित्य-प्रेमियोंके बीच चिर-स्मरणीय
रहेंगे । (समाप्त)

साधकोंके प्रति--

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

[सच्ची मनुष्यता]

अपने सुखसे सुखी होना और अपने दुःखसे दुःखी होना—यह पशुता है तथा दूसरेके सुखसे सुखी होना और दूसरेके दुःखसे दुःखी होना—यह मनुष्यता है। अतः जबतक दूसरेके सुखसे सुखी होने और दूसरेके दुःखसे दुःखी होनेका स्वभाव नहीं बन जाता, तबतक वह मनुष्य कहलानेके योग्य नहीं है। वह आकृतिसे चाहे मनुष्य दीखे, पर वास्तवमें मनुष्य नहीं है। जबतक स्वयंके सुखसे सुखी और स्वयंके दुःखसे दुःखी होंगे, तबतक मनुष्यता नहीं आयेगी।

जो अपने सुखके लिये दूसरोंकी हानि करता है, वह मनुष्य कहलाने योग्य नहीं है। मनुष्य वही होता है, जो स्वार्थका त्याग करके दूसरेका हित करे, कम-से-कम दूसरेकी हानि न करे। अतः यह शिक्षा ग्रहण करनी है कि हमारे द्वारा किसीको किञ्चिन्मात्र भी दुःख न हो। दूसरोंका दुःख कैसे मिटे—इससे भी आगे दूसरोंके हितकी दृष्टि रखो कि दूसरोंका हित कैसे हो ? प्राणिमात्रके हितमें रति हो—‘सर्वभूतहिते रताः’ (गीता ५। २५; १२। ४)। दूसरोंका हित कितना करना है, कितना नहीं करना है—इसकी आवश्यकता ही नहीं। हमारे पास जितनी सामर्थ्य है, जितनी योग्यता है, जितनी सामग्री है, उसीको दूसरोंके हितमें लगाना है, उतनी ही हमारी जिम्मेवारी है। सबको सुखी बना दे—यह किसी मनुष्यकी शक्ति नहीं है। यह इतनी कठिन बात है कि दुनियाके सब-के-सब आदमी मिलकर यदि एक आदमीको भी सुख पहुँचानेकी चेष्टा करें, तो भी उसे सुखी नहीं कर सकते। कारण कि उसमें जो धनकी, भोगोंकी, मानकी, बड़ाईकी, आरामकी लालसा है, वह ज्यों-ज्यों धन, भोग आदि मिलेंगे, त्यों-

ही-त्यों अधिक बढ़ती जायगी—‘जिम्नि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई’। अधिक-से-अधिक धन आदि मिलनेपर भी वह तृप्त नहीं हो सकता। जब सम्पूर्ण दुनिया मिलकर भी एक आदमीको सुखी नहीं कर सकती, तो एक आदमी दुनियाके दुःखको दूर कैसे करेगा ? परंतु ‘दूसरेको सुख कैसे हो’—यह भाव सब बना सकते हैं, चाहे वह भाई हो या बहन हो, बालक हो या जवान हो, धनी हो या निर्धन हो। सांसारिक वस्तुओंमें किसीको अधिकार मिला है, किसीको नहीं मिला है; परंतु हृदयसे सबका हित चाहनेका अधिकार सबको मिला है। इस अधिकारसे कोई भी वञ्चित नहीं है।

जो अपनी शक्तिके अनुसार दूसरोंका भला करता है, उसका भला भगवान् अपनी शक्तिके अनुसार करते हैं। वह अपनी पूरी शक्ति लगा देता है, तो भगवान् भी अपनी पूरी शक्ति लगा देते हैं। जब भगवान् अपनी शक्ति लगा देंगे, तब वह दुःखी कैसे रहेगा ? उसे कोई दुःखी कर ही नहीं सकता। वह भगवान्को प्राप्त हो जाता है—‘ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः’ (गीता १२। ४)।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत् ॥

सब सुखी हो जायँ, सब नीरोग हो जायँ, सबके आनन्द-मङ्गल हो, कभी किसीको किञ्चिन्मात्र भी कष्ट न हो—यह जिसका भाव बन जाय, वही मनुष्य कहलानेयोग्य है। जबतक वह दूसरेके दुःखसे दुःखी नहीं होता, तबतक वह मनुष्य कहलानेयोग्य नहीं है। दूसरी एक और बात है—जो दूसरोंके दुःखसे दुःखी होता है, उसे अपने दुःखसे दुःखी नहीं होना पड़ता। आपलोग ध्यान दें, अपने दुःखसे दुःखी उसीको होना

पड़ता है, जो दूसरोंके दुःखसे दुःखी नहीं होता और दूसरोंके सुखसे सुखी नहीं होता। वही संग्रही बनता है और अपने सुखका भोगी बनता है। उसे सुखका अभाव रहता है, कमी रहती है; परंतु जो दूसरोंके सुखसे सुखी होता है, उसे सुखकी कमी रहती ही नहीं। कमी कैसे नहीं रहती ? कि उसे अपने सुखभोगकी इच्छा ही नहीं रहती।

संग्रह करना और भोग भोगना—ये दोनों परमात्म-तत्त्वकी प्राप्तिमें बाधक हैं। रुपये-पैसे मेरे पास आ जायँ, सामग्री मुझे मिल जाय, भोग मैं भोग लूँ—यह जो भीतरकी लालसा है, यह परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति नहीं होने देती। कारण कि संग्रह करेगा तो शरीरसे ही करेगा और सुख भोगेगा तो शरीरसे ही भोगेगा। अतः इस हाड़-मांसके पुतलेमें लिप्त रहनेसे, इसकी गुलामी रहनेसे चिन्मय तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होगी; परंतु दूसरोंके सुखमें सुखी होनेसे भोग भोगनेकी इच्छा और दूसरोंके दुःखमें दुःखी होनेसे अपने लिये संग्रह करनेकी इच्छा नहीं रहती।

दूसरेके दुःखसे दुःखी होनेसे उसका दुःख दूर करनेका विचार होगा। जैसे अपना दुःख दूर करनेके लिये हम पैसे खर्च कर देते हैं, ऐसे ही दूसरेका दुःख दूर करनेके लिये हम पैसे खर्च कर देंगे। हम अधिक संग्रह नहीं कर सकेंगे ! यदि संग्रह अधिक हो भी जायगा, तो उसमें अपनापन नहीं रहेगा कि यह तो सबकी वस्तु है। इसीलिये भागवतमें आया है—

यावद् भ्रियेत जडरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम् ।

अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ॥

(७ । १४ । ८)

जितनेसे पेट भर जाय, उतनी ही वस्तु मनुष्यकी है। अभिप्राय यह है कि जितनेसे भूख मिट जाय, उतना अन्न; जितनेसे

जितनेसे शरीरका निर्वाह हो जाय, उतना कपड़ा और मकान—यह अपना है। इसके सिवाय अधिक अन्न है, जल है, वस्त्र है, मकान है, निर्वाहकी अधिक सामग्री है, उसे जो अपना मानता है—अपना अधिकार जमाता है, वह चोर है, उसे दण्ड मिलेगा। वह कहता है कि हम किसीसे लाये नहीं, यह तो हमारी है। पर वह हमारी कैसे ? क्योंकि जब जन्मे, तब एक धागा साथ लाये नहीं और जब मरेंगे, तब एक कौड़ी साथ जायगी नहीं। अतः हमारे पास जो अधिक सामग्री है, वह उसकी है, जिसके पास उस सामग्रीका अभाव है। जो दूसरोंके दुःखसे दुःखी होता है, वह अपने सुखके लिये भोग और संग्रहकी इच्छा नहीं करता। उसमें करुणाका, दयाका भाव पैदा होता है। करुणामें जो रस है, आनन्द है, वह भोगोंमें नहीं है।

यह जो आप संग्रह करते हैं, इसका अर्थ है—निर्दयता, भीतरमें दया नहीं है। जहाँ दया होती है, वहाँ अपने सुखके लिये संग्रह नहीं होता। क्यों नहीं होता ? क्योंकि उसे ऐसे ही आनन्द आता है। संग्रहमें जो सुख होता है, उसमें राजसी और तामसीपना होता है। दूसरोंके सुखमें जो सुख होता है, वह सुख संग्रहमें और भोगोंमें परिणत नहीं होता। उस सुखमें बड़ा भारी आनन्द होता है।

जिसका दूसरोंको सुख पहुँचानेका भाव है, वह दूसरोंको दुःखी देखकर आप सुख भोग ले—यह हो ही नहीं सकता। पड़ोसमें रहनेवालोंको अन्न न मिले और हम बढ़िया-बढ़िया भोजन बनाकर खायें—यह अच्छे हृदयवालोंसे नहीं होगा। उन्हें भोजन अच्छा ही नहीं लगेगा; परंतु जिनका स्वभाव दूसरोंको दुःख देनेका है, वे दूसरोंके दुःखसे क्या दुःखी होंगे ? वे तो दूसरोंका दुःख देखकर सुखी होते हैं। जो अपने सुखके लिये दूसरोंको दुःखी बना देते हैं, अपने मानके लिये

दूसरोंका अपमान करते हैं, अपनी प्रशंसाके लिये दूसरोंकी निन्दा करते हैं, अपने पदके लिये दूसरोंको पदच्युत करते हैं, वे मनुष्य कहलाने योग्य भी नहीं हैं, मनुष्य तो हैं ही नहीं। वे तो पशु हैं। पशु भी ऐसे निकम्मे कि न साँग हैं, न पूँछ है। जिसके साँग और पूँछ न हों, वह भद्दा पशु होता है। उनका ढाँचा तो मनुष्यका है, पर स्वभाव पशुका है। पशु-पक्षी तो अपने पापोंका फल भोगकर शुद्ध होते हैं, पर दूसरोंको दुःख देनेवाले नये-नये पाप करके नरकोंका रास्ता तैयार करते हैं ! रामायणमें आया है—

वरु भल बास नरक कर ताता ।

दुष्ट संग जनि देइ बिधाता ॥

(मानस ५ । ४५ । ४)

अपने सुखसे सुखी और अपने दुःखसे दुःखी होना दुष्टता है। नरकोंमें निवास भले ही हो जाय, पर ऐसे दुष्टोंका सङ्ग बिधाता न दे। नरकोंमें जितना निवास होगा, जितना नरक भोगेंगे, उतने हमारे पाप कट जायँगे और हम शुद्ध हो जायँगे; परंतु ऐसे दुष्टोंका सङ्ग करनेसे नये-नये नरक भोगने पड़ेंगे।

पशु दूसरोंको दुःख देनेपर भी पापके भागी नहीं बनते; क्योंकि पाप-पुण्यका विधान मनुष्यके लिये ही है। पशु-पक्षी दुःख देते हैं तो अपने खानेके लिये देते हैं। वे खा लेंगे तो फिर आपको तंग नहीं करेंगे। वे अपने

सुखभोगके लिये, संग्रहके लिये आपको तंग नहीं करेंगे, कष्ट नहीं देंगे, परंतु मनुष्य लाखों-करोड़ों रुपये कमा लेगा, तो भी दूसरोंको दुःख देगा और दुःख देकर अपना धन बढ़ाना चाहेगा, अपना सुख बढ़ाना चाहेगा। अतः वह मनुष्य कहलानेयोग्य नहीं है। वह तो पशुओंसे और नरकोंके कीड़ोंसे भी नीचा है ! मनुष्य-जीवन मिला है शुद्ध होनेके लिये, निर्मल होनेके लिये, परंतु जो दूसरोंको दुःख देते हैं, वे पाप कमाते हैं, जिसका परिणाम बहुत भयंकर होगा !

जिसके अन्तःकरणमें दूसरोंको सुखी देखकर प्रसन्नता और दूसरोंको दुःखी देखकर करुणा पैदा नहीं होती, उसका अन्तःकरण मैला होता है। मैला अन्तःकरण नरकोंमें ले जाता है। पशुका अन्तःकरण ऐसा मैला नहीं होता। पशु भोग्योनि है, कर्मयोनि नहीं है। वह अपने सुखके लिये दूसरोंको दुःख नहीं देता। वह किसी प्राणीको मारकर खा जाता है तो केवल आहार करता है, सुख नहीं भोगता; परंतु मनुष्य शौकसे अच्छी-अच्छी वस्तुएँ बनाकर खाता है, उसमें खादका सुख लेता है तो वह पाप करता है। अतः दूसरोंके सुखसे सुखी होना और दूसरोंके दुःखसे दुःखी होना ही सच्ची मनुष्यता है। मनुष्यमात्रको अपने भीतर हरदम यह भाव रखना चाहिये कि सब सुखी कैसे हों ? उनका दुःख कैसे मिटे ?

तुलसी ! भजु दीनदयालहि रे !

अपराध अगाध भएँ जनतैं, अपनैं उर आनत नाहिन जू ।
गनिका, गज, गीध, अजामिलके गनि पातकपुंज सिराहिं न जू ॥
लिपँ बारक नामु सुधामु दियो, जेहिं धाम महामुनि जाहिं न जू ।
तुलसी ! भजु दीनदयालहि रे ! रघुनाथु अनाथहि दाहिन जू ॥

(कबितावली उ० का० ७)

‘भरत हंस रविचंस तड़ागा’

(लेखक—डॉ० श्रीरामाप्रसादजी मिश्र, एम्० ए०, पी० एच्० डी०)

गुण-प्राहकताके कारण रामचरितमानसमें भरतका चरित्र सर्वोपरि है। उन्होंने हंसवत् अच्छाईरूपी दुःखको ग्रहणकर बुराईरूपी जलका बहिष्कार किया। सारे संसारमें उन्होंने अपने चरित्रका आलोक विकीर्ण किया। उनकी इसी महत्ताको लक्ष्य करते हुए श्रीरामने यह कहा है—

भरत हंस रविचंस तड़ागा। जनमि कीन्ह गुन दोष बिभागा॥
गहि गुन पय तजि अवगुन बारी। निज जस जगत कीन्ह उजियारी॥

सचमुच भरतके चरित्रमें अनेक अच्छाईयोंका समन्वय है। उनका चरित्र शीलचर, भक्तिभावना, भावुकता, विवेकशीलता, परदुःखकातरताप्रभृति विशेषताओंसे अनुप्राणित है। उनके चरित्रकी प्रत्येक विशेषता अवलोकनीय है।

भरत मानसके एक अत्यन्त शीलचारी पात्र हैं। उनके आचरणमें शालीनता, सुशीलता एवं सौम्यता है। शीलचरणके द्वारा वे भूरि-भूरि प्रशंसाके पात्र बनते हैं। पिता, माता, अग्रज, भाभी, अनुज तथा अन्य सम्पर्कमें अनेकाले विविध व्यक्तियोंसे वे जो व्यवहार करते हैं, वह अतिशय मोहक, शालीन एवं उत्कृष्ट चरित्रका परिचायक है। बड़ोंके प्रति वे पूज्य-भाव अर्पित करते हैं, छोटोंको अपने स्नेहसे सिक्त करते हैं तथा अन्यके प्रति भी वे सद्विचामूलक आचरण प्रदर्शित करते हैं।

राजा दशरथकी मृत्यु उनकी अनुपस्थितिमें होती है। वसिष्ठके बुलाये जानेपर जब वे अपने मामाके यहाँसे आते हैं और अयोध्याकी घटनाओंसे अवगत होते हैं, तब उन्हें बड़ा संताप होता है। पिताकी मृत्युका समाचार उन्हें मर्माहत कर देता है। फिर पिताकी मृत्यु-क्रियाका सम्पादन वे इतनी उदारता एवं मुक्तहस्ततासे करते हैं कि कठिने विचार है

पितृ हित भरत कीन्ह जस करनी। सो मुख लाख जाइ नहिं बरनी॥

यह पिताके प्रति पूज्यभावका द्योतक है। माताओंके प्रति भी उनके हृदयमें अतिशय श्रद्धा थी। कौसल्या यद्यपि उनकी सौतेली माता थी तथापि अपने सशचारके द्वारा वे उसके हृदयको जीत लेते हैं। जब कौसल्याके सम्मुख भरत अपनी निर्दोषताकी पुष्टिके लिये अनेक सौगन्ध खाते हैं, तब कौसल्या उनके हृदयकी निर्मलताको स्वीकार करती है और भरतकी विरोधहीनताको इन शब्दोंमें व्यक्त करती है—

बिधु बिष चवै खवै हिमु आगी। होइ बारिचर बारि बिरागी॥
भएँ ग्यानु बरु मिटै न मोहू। तुम्ह रामहि प्रतिकूल न होहू॥

उपर्युक्त उद्गारके साथ कौसल्या भरतपर अपनी ममताके रसका सिञ्चन करती है। माता कैकेयीकी भर्त्सना वे यह कहकर अवश्य करते हैं कि—

बर भाँगत मन भइ नहिं पीरा। गरि न जीह मुख परेउ न कीरा॥

किंतु बादमें सारा दोष अपने सिर ले लेते हैं और अपनेको पातकी मान लेते हैं—

मो समान को पातकी बादि कहहुँ कछु तोहि।

जो सत् दृष्टिसे ही देखते हैं उन्हें ऐसा लगता है कि भरतने चुभनकारी एवं अशोभनीय भाषाका प्रयोग कर कैकेयीके प्रति घृणित एवं असूयामूलक व्यवहार प्रदर्शित किया है, किंतु गहराईसे देखनेपर यह ज्ञात होता है कि भरतने व्यापक हितके परिप्रेक्ष्यमें माताका अपमान किया। विशिष्ट धर्मके लिये सामान्य धर्मकी यदि उन्होंने अवहेलना की तो यह आलोचनीय नहीं है।

अग्रज श्रीरामके प्रति वे पूर्णतया समर्पित थे। श्रीरामके प्रेममें वे आकण्ठ डूबे हुए थे। श्रीरामकी अनुपस्थितिमें जब उनसे राज्य-संबालनका आग्रह किया

गया, तब उन्होंने कितावा पत निश्चय किया

देखें बिनु रघुनाथ पद जिय की जरनि न जाइ ॥

इस निश्चयके साथ वे श्रीरामसे मिलनेके लिये सबके साथ प्रस्थान करते हैं। यात्राके अन्तर्गत जब श्रीरामकी सम्पर्कित वस्तुओंका साक्षात्कार करते हैं, तब वे उनके प्रति भी पूज्यभाव अर्पित करने लगते हैं। प्रियकी सम्पर्कित जगह या वस्तु भी भरतके लिये प्रणम्य बन जाती है—

जहँ जहँ राम बास विश्रामा। तहँ तहँ करहिं सप्रेम प्रनामा ॥
चरन रेख रज आँखिन्ह लाई। बनइ न कहत प्रीति अधिकाई ॥

श्रीराम नहीं लौट सके तो भरत उनकी चरणपादुका लेकर लौट पड़े। श्रीरामकी वनवास-अवधिमें चरणपादुकाके सान्निध्यमें रहकर उन्होंने जो तपस्या की, वह उनके पवित्र बन्धुत्वका परिचायक है। भरतने अपनी भाभी सीताके प्रति भी सदैव श्रद्धा अर्पित की। सीताके आभूषणकणोंके प्रति पूज्यभाव प्रदर्शित करना श्रद्धाकी पराकाष्ठा है—

कनक बिंदु दुइ चारिक देखे। राखे सीस सीय सम लेखे ॥

अनुजोंके प्रति भरतका व्यवहार स्नेहसिक्त था। एक स्थानपर लक्ष्मणके परितापकी कल्पना करके वे कितनी पीड़ानुभूति करते हैं। मृदुल मूर्ति एवं सुकुमार स्वभाव-वाले लक्ष्मण, जिसके कलेवरका स्पर्श उष्ण हवाने कभी नहीं किया है, वन्य-यातना सह रहे हैं—यह अतिशय दुःखकी बात है—

मृदु मूर्ति सुकुमार स्वभाऊ। तात बाउ तन लागन काऊ ॥
ते बन सहहिं बिपति सब भौंती। निदरे कोटि कुलिस यह छाती ॥

भरतके चरित्रमें दर्पका अस्तित्व धूमिल रूपमें भी नहीं है। हनुमान् जब श्रीरामके वनसे लौटनेका समाचार भरतको देते हैं, तब भरत अत्यधिक पुलकित हो जाते हैं। यह समाचार भरतके लिये अमूल्य था। वे कृतज्ञता ज्ञापित करनेमें किसी प्रकारसे संकोच नहीं करते—

‘नहिन तात उरिन में तोही ।’

निषादराज-जैसे अमूल्य व्यक्तिसे जब वे मिलते हैं

तब उनका हृदय पुलकित हो जाता है। वे उसे आलिङ्गनवद् कर लेते हैं। भरतके इस दर्परहित निश्चल प्रेमके सम्वन्धमें कवि तुलसीने लिखा है—

लोक बेद सब भौंतिहि नीचा।
तेहि भरि अंक राम लघु भ्राता। मिलत पुलक परिपूरित गाता ॥

भरतके स्नेह और शीलताको देखकर स्वयं निषाद-राज आत्म-विस्मृत हो जाता है—

देखि भरत कर सील सनेहू। भा निषाद तेहि समय बिदेहू ॥

इस प्रकार भरतका सदाचार श्लाघनीय है। अपने चरित्रकी सौम्यताके द्वारा वे हर पात्रके प्रति शुभ व्यवहार प्रदर्शित करते हैं। भरतकी शालीनताका कोई सानी नहीं। किसके प्रति कैसा व्यवहार करना चाहिये, यह भरत भलीभाँति जानते हैं। भरतका शीलाचार अप्रतिम है।

भ्रातृत्व एवं भक्तिका अनोखा समन्वय हमें भरतके चरित्रमें लक्षित होता है। छोटे भाईके नाते श्रीरामके प्रति वे पूज्यभाव रखे हुए हैं, किंतु भक्तके रूपमें जब वे श्रीरामसे जुड़ते हैं, तब आराध्यकी पूजनीयतामें निखार आ जाता है। भरतमें भायप-भक्तिकी पहले ही विद्यमानता है, जो दुःख-दोषको विदूरित करनेवाली है—

भायप भगति भरत आचरनू। कहत सुनत दुख दूषन हरनू ॥

भरतके आचरणमें भायप-भक्तिका प्रस्फुटन निष्काम भक्तिके रूपमें होता है; अर्थात् भक्ति उनके लिये साधन-साध्य दोनों है। भक्तिको साधन बनाकर किसी लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये या किसी कामनाकी पूर्तिके लिये उनमें ललक नहीं है। पुरुषार्थचतुष्टयमेंसे किसीकी भी प्राप्ति उनका प्रयोजन नहीं है। वे तो बस रामभक्तिके निःस्पृह आकाङ्क्षी हैं—

अरथ न धरम न काम रुचि गति न चाहौं निरवान ।

CC-O. Nanaji Deshmukh Library, BJP, Jammu. Digitized By eGangotri

इस उच्चस्तरीय भक्तिके लिये उन्होंने त्याग, तपस्या, संयम-नियमका जो आचरण प्रदर्शित किया, वह अतिशय प्रशंसनीय है। वे जानते थे कि भक्तिके तीन प्रमुख बाधक तत्त्व हैं—लोभ, क्रोध एवं काम। वे तीनोंके समक्ष अपराजेय रहे। तानोंसे निर्लिप्त रहे।

सर्वप्रथम लोभपर विजय प्राप्त करनेका दृश्य उस समय लक्षित होता है, जिस समय वसिष्ठके द्वारा राज्यासन-पर आसीन होनेका आग्रह किया जाता है और भरत विनम्रतापूर्वक इसे अस्वीकार करते हैं। इस प्रकार धन-लक्ष्मि भावना भरतपर हावी नहीं हो सकी। हाँ, भरतने राम-राज्यकी रक्षा चौदह वर्षोंतक अवश्य की, किंतु उसे अपना समझकर नहीं, श्रीरामकी थाती समझकर। श्रीरामके वनसे प्रत्यावर्तनतक अवधकी सम्पदा भरतके द्वारा सुरक्षित एवं अक्षत रही। वैभवके बीच रहकर वैभवसे अनसक्त रहना भरत-चरित्रकी महनीयताका प्रमाण है—

तेहि पुर बसत भरत बिनु रागा। चंचरीक जिमि चंपक बागा॥

लोभकी भाँति क्रोधपर भी उन्होंने विजय प्राप्त की। अपने निर्मल आचारके द्वारा अपने प्रति क्रोध करनेवालोंको उन्होंने विनयावन्त कर दिया। इस संदर्भमें दो प्रसंग अवलोकनीय हैं। पहला निषादराजका क्रोधप्रदर्शन, दूसरा लक्ष्मणका क्रोध-प्रदर्शन। दोनोंने भरतके चरित्रपर कलमपताका आरोप लगाया तथा इनकी यात्राके पीछे कलुषित प्रयोजनकी कल्पना की। फलतः क्रोधित हुए, किंतु भरतके व्यक्तित्वने दोनोंके क्रोधको शान्त कर दिया। एक वयोवृद्ध व्यक्तिने निषादराजको समझाया और श्रीरामने भरतके चरित्रका विश्लेषण किया। परिणामस्वरूप निषादराज एवं लक्ष्मण शान्त ही नहीं हुए, अपितु भरतके तपःपूत चरित्र एवं विनयशीलताके कायल हो गये।

रात्रिके समय किसी पिंजड़ेमें चकवा एवं चकवीको रख दिये जानेपर भी उनका परस्पर मिलन नहीं होता। ठीक उसी प्रकार भरत भी विषयवासनासे निर्लिप्त रहे, यद्यपि आतिथेय भरद्वाजसे जेठानिवासी प्रभु रामकी उन्नत भक्ति

प्रस्तुत की थी। इस प्रकार भरतपर कामका असफल आक्रमण हुआ, जिसका वर्णन कवितुलसीने इस प्रकार किया है—

संपति चकई भरत चक मुनि आयसु खेलवार।
तेहि निसि आश्रम पिंजरा राखे भा भिनुसार॥

भरतकी जितेन्द्रियताका अवितथ चित्रण कविने अयोध्याकाण्डके अन्तमें किया है। भरत जब चित्रकूटसे श्रीरामकी चरण-पादुका लेकर लौटते हैं और नन्दिग्राममें तपश्चर्यानुवर्त हो जाते हैं, तब वे भौतिक जीवनका त्याग कर साधक जीवन व्यतीत करते हैं। शम-दम-संयम-नियम-उपवास आदि उनके हृदयाकाशमें नक्षत्रवत् जाज्वल्यमान दिखलायी देते हैं। भरतके हृदयका विश्वास ध्रुवताराकी भाँति तथा चौदहवर्षीय अवधि शरत्पूर्णिमाकी भाँति दृष्टिगोचर होती है। स्वामी (श्रीराम) की स्मृति आकाशगङ्गाकी भाँति प्रतीत होती है। श्रीरामप्रेमको देदीप्यमान चन्द्रमासे कवि उपमित करते हैं और इस प्रकार भरतकी उत्कृष्ट भक्तिके मञ्जुल रूपको प्रस्तुत करते हुए कवि तुलसी यह स्पष्ट कर देते हैं कि भरतकी भक्ति साधनाके उत्तुंग शिखरपर आवृत है, जहाँ लोभ-काम-क्रोधका किंचिन्मात्र भी अस्तित्व नहीं है। भरतकी भक्ति समस्त ऐषगाओंसे रहित है। इन्द्रिय-दमनके बाद भी भरतके मुख ही कान्ति पूर्ववत् अक्षुण्ण है। शारीरिक कृशता तपस्याके कारण आ रही है, किंतु आत्मबलसे उद्वेलित भक्तिके सौजन्यसे मुखाभा अमन्द है। वह दृश्य अवलोकनीय है—

देह दिनहु दिन दूबर होई। घटत तेजु बल मुखछबि सोई॥

x x x

सम दम संजम नियम उपासा। नखत भरतहिँ ब्रिमल अकासा।
ध्रुव ब्रिस्वासु अवधि राका सी। स्वामि सुरति सुरबोधि बिकासी॥
राम पेम बिधु अचल अदोषा। सहित समाज सोह नित चोखा॥

भरतके चरित्रमें भावुकता एवं विवेकशीलताका मणि-कांचन-संयोग दिखलायी देता है। वे भावुकतासे प्रेरित होकर श्रीरामको लौटानेके लिये प्रस्थित होते हैं; क्योंकि उनके मनमें यह संताप है—

मणि-कांचन-संयोग दिखलायी देता है। वे भावुकतासे प्रेरित होकर श्रीरामको लौटानेके लिये प्रस्थित होते हैं; क्योंकि उनके मनमें यह संताप है—

वे सोचते हैं—मेरे कारण श्रीराम वन जावँ, यह कितने दुःखकी बात है । आत्मदोष-बोधसे उनका संवेदनशील हृदय पश्चात्तापसे भर जाता है और वे भावुकतासे उद्बलित होकर श्रीरामके पास पहुँचते हैं, किंतु वहाँ पहुँचकर वे विवेक-परायण हो जाते हैं । पितृ-आज्ञा-पालनके परिप्रेक्ष्यमें जब वे श्रीरामकी विश्वास-साक्षात्कार करते हैं, तब वे श्रीरामको लेकर नहीं लौट पाते—उनकी चरणपादुकाको श्रीरामका प्रतीक मानकर ग्रहण कर लेते हैं । यह उनकी प्रज्ञाशक्तिद्वारा विकल्पका अनुसंधान है । दो प्रकारके कर्तव्योंके बीच टकरावकी स्थिति न आने देना ही बौद्धिकताका प्रमाण है । भरतकी भारती निर्मल विवेक एवं धर्म-नीतिसे अनुप्राणित है—
बिमल विवेक धरम नय साली । भरत भारती मंजु मराली ॥

करुणा एवं दयासे भरतका अन्तःप्रदेश ओत-प्रोत है । सारे अनिष्टोंकी जड़ मन्थरापर जब शत्रुघ्न घुसों एवं व्यतोंकी वर्षा करते हैं, तब भरत उसे छुड़ा देते हैं । 'भरत दया निधि दीन्ह छुड़ाई'—भरतका यह कार्य उनकी परदुःखकातरताका द्योतक है ।

एक ओर भरत तपश्चर्यामें लीन हैं, दूसरी ओर उनकी दृष्टि अयोध्याके राज्यपर भी केन्द्रित है । तभी तो वे आकाशगामी हनुमान्को किसी राक्षसका अनुमान कर उनपर बाणका संधान कर देते हैं । यह भरतकी सजगताका उदाहरण है । भरतका दायित्व उभयमुखी है । वे श्रीरामके प्रति समर्पित होकर रामराज्यकी रक्षा कर गुरुतर भार वहन कर रहे हैं । अतः युगल दायित्वोंके युगात् निर्वाहके प्रति वे पूर्णतया सजग हैं । श्रीराम भरतके सुन्दर चरित्रसे अत्यधिक प्रभावित हैं । इनकी अहंकार-विहीनताके संदर्भमें श्रीरामका उद्गार है—

श्रीरामके मतानुसार भरतके चरित्रमें कर्मप्रताप अनुमान करना जघन्य अपराध है—ऐसे व्यक्तियोंको लौकिक-पारलौकिक दोनों प्रकारकी क्षति पहुँच सकती है—
उर आनत तुम्हपर कुटिलाई । जाहि लोक परलोक नसाई ॥

एक स्थानपर श्रीराम यहाँतक कहते हैं कि भरतका चरित्र अनुपमेय है—

करम बचन मानस बिमल तुम्ह समान तुम्ह तात ।

वे मनसा-वाचा-कर्मणा पवित्र हैं—उनकी तुलना किसीसे नहीं की जा सकती । द्रोणाचलको लेकर उड़ान भरते समय जब हनुमान् भरतके बाणसे आहत होकर कुछ समयके लिये मूर्च्छित हो जाते हैं और कुछ क्षणोंके बाद स्वस्थ होकर सारा वृत्तान्त भरतके समक्ष रखते हैं, तब भरत श्रीरामकी व्याकथाको सुनकर संतप्त हो जाते हैं । हनुमान् कुछ क्षणोंतक ही भरतके सम्पर्कमें रहते हैं, किंतु उस अल्प अन्तरालमें ही भरतकी चारित्रिक महिमाका परिचय हनुमान्को ज्ञात हो जाता है । इसीलिये भरतके गुणोंकी सराहना मन-ही-मन करते हुए वे अपनी यात्रा सम्पन्न करते हैं—

भरत बाहु बल लील गुन प्रभु पद प्रीति अपार ।

मन मैंह जात सराहत पुनि पुनि पवन कुमार ॥

राजा जनककी दृष्टिमें भरतकी महिमा श्रीरामके लिये भी अवर्णनीय है । अपनी पत्नी सुनयनासे वे कहते हैं—

भरत अमित महिमा सुनु रानी । जानहिं राम न सकहिं बखानी ॥

भरत-चरित्रकी उत्कृष्टताके प्रति जन-मानसकी प्रबल आस्था है । उसके मतानुसार भरत स्वप्नमें भी श्रीरामके प्रतिकूल नहीं हो सकते । उनकी धारणा है कि—

चंद्र चवै बरु अनल कन सुधा होइ बिपतूल ।

सपनेहुँ कबहुँ न कहिं कछु भरत राम प्रतिकूल ॥

कवि भरतके रामानुरागके कायल हैं । वे भरतकी

भरतहि होइ न राजमद बिधि हरि हर पद बाइ ।

CC-O. Nanaji Deshmukh Library, BJP, Jammu. Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

कबहुँ कि काजी सीकरन्ह छोरसिधु बिनसाइ ॥

यदना करते हुए लिखते हैं कि भरतका नियम-अत

सर्वथा अघर्णनीय है । श्रीरामके चरणकमलके प्रति वे मधुपवत् अनुरक्त हैं—

प्रनवडं प्रथम भरत के चरना । जासु नेम घत जाइ न बरना ॥
राम चरन पंकज मन जासू । लुबुध मधुप इव तजइ न पासू ॥

आज भरतका शरीर तिरोहित है, किंतु उनके आदर्श विद्यमान हैं । आधुनिक युगको भरत-जैसे भाईकी नितान्त आवश्यकता है । यान्त्रिक युगकी विभीषिकामें आज सारा संसार जर्जरित है—अतिशय स्वार्थने आज मानवता एवं बन्धुत्वभावको नष्ट कर दिया है । भाई, भाईका गला घोट रहा है । आसुरी

वृत्तियोंके अतिरेकके कारण आज मानवीय मूल्योंका विघटन और नैतिक मान्यताओंका हास हो रहा है । मिथ्या वैभवको प्राप्त करनेके लिये लोग बेतहाश दौड़ लगा रहे हैं । सर्वत्र दुर्भावनाओंका लोमहर्षक दृश्य दिखलायी दे रहा है । अतः ऐसी स्थितिमें भरत-जैसे चरित्रकी उद्भावनाकी नितान्त आवश्यकता है । भरतकी निःस्पृहता, त्यागवीरता, कर्मठता, पवित्र धारणा, मंजुल भक्तिके कण यदि इस विश्वको मिळ जायँ तो निःसंदेह तनावमें शैथिल्य आ सकता है और यह पृथिवी सौहार्दका स्थान बन सकती है । अतः भरत कालजयी पात्र हैं—यह प्रासंगिक है ।

सचाईका पुरस्कार

(लेखक—पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम० ए०)

संसारके सभी लोग सचाईकी बड़ाई करते हैं । ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं मिलेगा जो मिथ्या आचरण और दूसरोंको धोखा देनेको भला कहे । पर यह भी एक साधारण अनुभवकी बात है कि बिरला ही व्यक्ति पूर्णतया सचाईको अपने व्यवहारमें लाता है । इतना ही नहीं, जो व्यक्ति जितना अधिक दूसरोंसे सच्चे व्यवहारकी आशा करता है, वह उतना ही स्वयं धूर्त होता है । धूर्त व्यक्तिको संसारके सभी लोग छल और कपटसे भरे दिखायी देते हैं । वह अपने कपट-व्यवहारकी ओर दृष्टि नहीं डालता, पर दूसरोंके कपट-व्यवहारसे सदा सतर्क रहता है । ऐसा व्यक्ति जितना भोले-भाले लोगोंकी प्रशंसा करता है, उतना अपने जीवनमें सत्य व्यवहार करनेवाला नहीं देखा जाता ।

अब प्रश्न यह उठता है कि सच्चे लोग सचाईकी महिमाका बखान करें तो युक्तिसंगत है, झूठे लोग क्यों सचाईकी महिमा गाते हैं, वे लोग क्यों सच्चे लोगोंकी खोजमें रहते हैं ? संसारके प्रायः सभी लोग अपने-आप सच्चे न होकर फिर सच्चे लोगोंकी खोज करते हैं ।

और जब वे एक प्रकारके व्यवहारको अच्छा कहते हैं, तब स्वयं तदनुकूल आचरण क्यों नहीं करते ?

प्रश्नके पहले भागका उत्तर यह है कि सच्चे लोग जितनी सरलतासे ठगे जा सकते हैं, उतनी सरलतासे झूठे लोग नहीं ठगे जा सकते । यदि धूर्तोंको सदा उन्हीं-जैसोंसे व्यवहार करना पड़े तो उनकी धूर्तताका महत्त्व कुछ भी न रह जाय । ठगोंको उनकी ठग-विद्यासे तभी लाभ होता है, जब दूसरे लोग ठगोरी करनेको मिलते हैं । ठगोंको भोले-भाले आदमी प्रिय होते हैं और चतुर आदमी उन्हें अप्रिय लगते हैं । जो व्यक्ति उनके नग्नस्वरूपको उन्हींके सामने खड़ा कर दे, उससे बड़ा शत्रु वे किसी दूसरेको नहीं मानते । हम सचाईकी प्रशंसा आत्मरक्षाकी भावनासे करते हैं । हम दूसरोंसे ठगे नहीं जाना चाहते, अतएव सच्चे लोगोंको भला कहते हैं । पर जब हम सचाईको भला गुण कहते हैं, तब अपने आन्तरिक मनमें हम यह नहीं चाहते कि हम स्वयं सच्चे बनें और सब प्रकार धूर्तता और चतुराईसे

इसका कारण क्या है ? इसका कारण यही है कि हमने वास्तवमें सचाईके महत्त्वको नहीं समझा । सचाईसे व्यवहार करनेवाला व्यक्ति प्रायः सांसारिक दृष्टिसे घाटेमें रहता है । अतएव हम मन-ही-मन सचाईको एक प्रकारकी बेवकूफी समझते हैं । विरला ही व्यक्ति सचाईकी मौलिकताको ठीकसे समझा है । इसलिये हमें अपने मनमें अनेक युक्तियोंसे यह बिठलाना आवश्यक है कि वास्तवमें धूर्तता त्याज्य है और सचाई लाभकारी है । बड़े आश्चर्यकी बात तो यह है कि जो व्यक्ति सारे संसारको अनेक प्रकारकी युक्तियोंद्वारा सचाई, कर्तव्यपरायणता और सरलताकी मौलिकताको समझ सकता है, वही इन गुणोंसे वञ्चित रहता है । सचाईका उपदेश देनेवाले व्यक्ति ही प्रायः बड़े धूर्त होते हैं । जो बात तीक्ष्ण बुद्धिवाला व्यक्ति अनेक तरहसे लोगोंको समझाता है, ठीक उसी बातके प्रतिकूल उसका आचरण होता है । अतएव इस प्रकारके विद्वान्से संसारके लोग धूर्तता ही सीखते हैं, न कि सचाई । वास्तवमें ये विद्वान् विद्वान् ही नहीं, ये तो परम मूर्ख हैं ।

सचाईका वास्तविक पुरस्कार क्या है—यह जानना एक दिनकी बात नहीं । सच्चे कामका फल अच्छा होता है और झूठका बुरा । यह सम्पूर्ण जीवनके अनुभवके पश्चात् किसी-किसी व्यक्तिकी समझमें आता है । झुठाईसे मनुष्यको तात्कालिक लाभकी सम्भावना रहती है । यदि किसी लड़केने अच्छी तरहसे अपना पाठ याद नहीं किया है और नकल करके परीक्षामें उत्तीर्ण हो जाता है तो वह नकल करनेके सुअवसरसे लाभ क्यों न उठावे । यदि वह लड़का नकल करनेके मौकेको काममें नहीं लाता तो उसे एक पूरे साल पुरानी कक्षामें ही ठहरना पड़ता है । किंतु ऐसी सचाईसे क्या लाभ जिससे जीवन नष्ट हो ? ऐसे गुड़से क्या लाभ जो मौतको आमन्त्रित करे ? इस प्रकारके विचार मनुष्यको झूठे व्यवहारोंमें प्रवृत्त कराते हैं ।

मनुष्य सदा छोटे मार्गको ढूँढ़ा करता है । इसी प्रवृत्तिके कारण वह सचाईके लंबे रास्तेको छोड़कर मिथ्यात्वमें पड़ता है । इस प्रकारके आचरणसे मनुष्य अन्तमें दुःख भोगता है । इसका विचार उसे नहीं रहता । जब चोर चोरी करे, तब यदि वह यह सोचने लग जाय कि उसे प्रत्येक चोरीके लिये कभी-न-कभी दण्ड मिलेगा तो वह कुमार्गगामी ही क्यों बने ? मनुष्यको अपने कृत्योंके प्रति सन्निकटके निष्कर्ष ही दिखायी देते हैं, उसे अन्तिम परिणाम दिखायी ही नहीं देता । इसीलिये वह अपनेको लालचसे नहीं रोक पाता ।

जिस मनुष्यका हृदय विशुद्ध है, वह प्रत्येक कामके शुभ और अशुभ परिणामको तुरंत देख लेता है । प्रत्येक मनुष्यका स्वभाव दो प्रकारकी प्रवृत्तियोंसे मिलकर बना है—एक उसे स्वार्थपरायण बनाती है और दूसरी उसे परोपकारमें प्रवृत्त करती है । ये दोनों ही प्रवृत्तियाँ समानरूपसे प्रबल हैं । जब मनुष्यकी स्वार्थ-सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ प्रबल होती हैं, तब वह छल-कपट और धूर्ततासे काम लेता है और जब उसकी मानसिक प्रवृत्ति परोपकारकी ओर जाती है अर्थात् वह परमार्थका चिन्तन करता है तब वह सचाईका मार्ग ग्रहण करता है । जो मनुष्य अपने-आपके प्रति सतर्क है, वह जभी सच्चे मार्गसे विचलित होता है तभी वह अपनी त्रुटिको तुरंत समझ जाता है और उसे उस भूलको सुधारे बिना चैन नहीं मिलती । प्रत्येक मनुष्य संसारको धोखा भले ही देता हो, किंतु वह अपने-आपको धोखा नहीं दे सकता । दुराचारीका आत्मा उसे सदा कोसता रहता है । यदि दुराचारी मनुष्य अपने दुराचारको नहीं छोड़ता तो धीरे-धीरे वह एक ऐसी स्थितिमें पहुँच जाता है, जहाँसे मुक्त होना असम्भव हो जाता है । उसका एक-न-एक दिन विनाश निश्चित है ।

देखा गया है कि झूठे और मक्कार व्यक्तिको झूठे और मक्कार ही साथी मिलते हैं । जब उसे ऐसे

लोग नहीं मिलते, तब वह भले लोगोंकी नीच प्रवृत्तियोंको ही उभाड़ा करता है, जिसमें दूसरे लोग उसकी बुराइयोंका संसारमें प्रदर्शन न करें। वह दूसरोंकी बुराइयोंको सहता है, उनमें भी स्वार्थ-बुद्धिका प्रचार करता है, किंतु इस प्रकारका व्यवहार अन्तमें उसको विनाशोन्मुख बना देता है।

यह समझना बड़ा ही कठिन है कि प्रत्येक छल और कपटका कार्य हमें आध्यात्मिक हानि पहुँचाता है। जिस प्रकार चोर सभी लोगोंसे डरता रहता है, इसी तरह मक्कार मनुष्यका मन सदा उद्विग्न रहता है। उसकी धार्मिकताकी ओट उसे आन्तरिक शान्ति नहीं देती। संसारके सभी पदार्थ मनकी शान्तिके लिये हैं। मिथ्याचारीको संसारकी और वस्तुएँ क्यों न मिल जायँ, मनकी शान्ति कदापि नहीं मिलती। उसका हृदय आन्तरिक ज्वालासे सदा संतप्त रहता है। जब इस तरह दिन-प्रतिदिनके व्यवहारसे उसका आध्यात्मिक बल नष्ट हो जाता है, तब फिर उसका बाह्य जगत्में भी

पतन हो जाता है। जैसे-जैसे वह ऊँचा चढ़ता है वैसे ही उसकी तृष्णा भी बढ़ती जाती है। साथ ही उसमें ईर्ष्या, क्रोध, द्वेष आदिकी दिनोंदिन अधिकता होती जाती है। फिर वे संसारमें उसके पतनके कारण बन जाते हैं।

अस्तु ! सचाईका पुरस्कार अदृश्य है। यह ज्ञानकी दृष्टिसे ही जाना जा सकता है। सच्चा मनुष्य प्रायः दूसरोंके द्वारा ठगा जाता है। पर उसे वे मानसिक यन्त्रगाएँ नहीं होतीं, जो ठगनेवाले चतुर व्यक्तिको होती हैं, उसे तस्करकी भाँति सबसे डरते रहना नहीं पड़ता। उसका मन शान्त रहता है। वह शीघ्र ऊँचे पदपर नहीं पहुँचता, पर कालान्तरमें उसका उत्थान अवश्य होता है, जिसे कोई रोक नहीं सकता। धूर्तकी उन्नति अस्थायी होती है, सच्चोंकी स्थायी। वह अपने अवनत अवस्थामें भी स्वर्गीय सुखका अनुभव करता है, परंतु धूर्त ऊपरसे उन्नत दीखता हुआ भी अंदर नारकीय यन्त्रगा भोगता है।

‘सुखेतु होत ऊसरो’

सूरसिरताज, महाराजनि के महाराज,
जाको नामु लेतहीं सुखेतु होत ऊसरो ।
साहेबु कहाँ जहान जानकीसु सो सुजान,
सुमिरैं कृपालुके मरालु होत खूसरो ॥
केवट, पषान, जातुधान, कपि-भालु तारे,
अपनायो तुलसी-सो धौंग धमधूसरो ।
बोलको अटल, बाँहको पगारू, दीनबन्धु,
दूबरेको दानी, को दयानिधानु दूसरो ॥

(कवितावली उ० का० १६)

पूर्ण दुःखनिवृत्ति क्या सम्भव है ?

(लेखक—स्वामी श्रीशंकरानन्दजी सरस्वती)

शङ्का-वेद, शास्त्र आदि सद्ग्रन्थोंके आधारपर सभी महान् संतोंके मुखारविन्दसे सत्सङ्गमें यही श्रवण करनेको मिलता है कि दुःखोंके अत्यन्त विनाश (मोक्ष) के लिये ही साधन-धाम मानव-जीवन मिला है । दुःखोंके अत्यन्त विनाशकी इच्छा सभीमें स्वाभाविकरूपसे रहनेके कारण मोक्षकी बातें सुनकर अभिलाषाका उदय होना स्वाभाविक है । इतना होनेपर भी मुझे यह शङ्का होती है कि दुःखोंका अत्यन्त विनाश जीवनमें कभी हो सकता है क्या ?

ऐसी शङ्का होनेका कारण यह है कि वेदादि सद्ग्रन्थोंके आधारपर महान् संतोंके मुखारविन्दसे यही सुनता आया हूँ कि दुःखोंके दो कारण हैं—एक अदृष्ट अर्थात् प्रारब्ध, दूसरा दृष्ट अर्थात् अविवेक । इनमें प्रारब्ध-भोग अनिवार्य है, ऐसा तो वेदादि सद्ग्रन्थोंके आधारपर संत स्वयं ही कहते हैं तथा प्रत्यक्ष अनुभवमें आनेके कारण सभी स्वीकार भी करते हैं । रही बात अविवेककी, सो भी ठीक है; क्योंकि हम नित्यप्रति देखते हैं कि क्या खाना क्या न खाना, क्या छूना क्या न छूना, किस स्थानपर बैठना, किस स्थानपर न बैठना, किसकी संगति करना किसकी न करना आदि बातोंका ठीक-ठीक विवेक (ज्ञान) न होनेके कारण हमें नाना प्रकारके दुःखोंका सामना करना पड़ता है । तो भी यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या अल्पज्ञ मानव इन सबका ज्ञान प्राप्त कर सकता है ? इसका उत्तर 'नहीं' यही देना होगा । इसका कारण यही है कि 'संसारकी पाठशाला अनन्त है ।'

इसपर और विस्तारके साथ विचार करें । जन्मसे लेकर पंद्रह-सोलह वर्षतककी आयुमें जबतक बुद्धिका विकास

नहीं हो जाता तबतक बाल्यावस्थामें चाकू, विष्णू पकड़ना, मिट्टी आदि अवाद्य पदार्थ खाना आदि ऐसे अनेक कार्य कर लेते हैं जिससे महान् दुःखोंका सामना करना पड़ता है । यदि माँ-बाप उन्हें देख लें और उन पदार्थोंका स्पर्श न करने दें तो भी इच्छापूर्ति न होनेके कारण महान् दुःखी होते हैं, विलख-विलखकर, फफक-फफक कर रोते हैं, उनके इन दुःखोंको किसी प्रकार भी मिटाया नहीं जा सकता । इस प्रकार मानव-जीवनकी बाल्यावस्थामें तो दुःखोंका अत्यन्त विनाश सम्भव ही नहीं ।

भोड़ी और गम्भीरतासे विचार कर देखा जाय तो अविकसित बुद्धिवाले मानवोंकी युवावस्था, प्रौढ़ावस्था तथा वृद्धावस्थातक बालकों-जैसी ही बुद्धि रहनेके कारण उनके तो सारे जीवनमें भी दुःखोंको किसी प्रकार मिटाया नहीं जा सकता । विकसित बुद्धिवाले मानवोंके जीवनमें भी अधिक वृद्धावस्थामें बुद्धिका हास हो जानेके कारण बालकों-जैसी बुद्धि हो जानेसे उनकी भी वृद्धावस्थामें दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं हो सकती । इतना ही नहीं, विकसित बुद्धिवाले मानवोंकी युवावस्थामें अनेकानेक ऐसे पदार्थ रहते हैं, जिनके विषयमें वे बालकोंकी तरह ही ज्ञानहीन होते हैं, अतः उन पदार्थोंके खाने, पीने, छूने आदिसे महान् दुःख उन्हें युवावस्थामें भी भोगने पड़ते हैं ।

भोड़ा और अधिक गम्भीर विचार करें तो विकसित बुद्धिवाले युवक मानवोंको जितना ज्ञान है, उसका भी वे पूर्ण उपयोग नहीं कर सकते; क्योंकि प्राप्त ज्ञानका समयपर उपयोग तभी हो सकता है, जब समयपर

(गीता १४ । १७) अर्थात् सत्त्वगुणसे ज्ञान उत्पन्न होता है। सत्त्वगुण सदा एकरस रहता नहीं, इसलिये प्राप्त ज्ञानका भी समयपर उदित होना निश्चित न होनेके कारण उसका भी पूर्ण उपयोग नहीं कर सकते।

यदि कहा जाय कि ज्ञान बनाये रखने या समयपर उदित हो जानेके लिये सत्त्वगुणवर्धक शब्द, स्पर्श, रूप तथा रसका ही सेवन करना चाहिये। यह कथन भी ठीक नहीं; क्योंकि इसमें भी मनुष्य पूरा स्वतन्त्र नहीं है। देखिये, यह रसात्मक दुःखादि सात्त्विक पदार्थ राजस तथा तामस वस्तु, व्यक्ति, देश, काल, भाव आदिसे दूषित हुआ है या नहीं, इसे पूरा जानना साधकके हाथमें नहीं। व्यवहार करते हुए आँख और कान बंद करके कार्य नहीं किया जा सकता। ऐसी दशामें न चाहते हुए भी राजस तथा तामस शब्द, रूप आदिका प्रवेश बलात् हो जाता है, जिससे रजोगुण तथा तमोगुणका विकास तथा सत्त्वगुणका विनाश हो जाता है।

इसके अतिरिक्त चौदह-पंद्रह वर्षतक बाल्यावस्थामें, इतनी ही क्यों जबतक सत्सङ्ग प्राप्त न हो तबतक युवावस्था, प्रौढ़ावस्था तथा वृद्धावस्थातक भी क्या सात्त्विक है, क्या राजस और तामस है, ऐसा ज्ञान नहीं होता। हम जिस देश, काल, समाज तथा परिवारमें पैदा होते हैं, वहाँ जैसा खान-पान, रहन-सहन, श्रवण तथा पठन होता है, बाल्यावस्थासे उसीका सेवन होनेके कारण उनके संस्कार इतने सुदृढ़ हो जाते हैं कि सत्सङ्ग प्राप्त होनेपर सात्त्विक, राजस और तामसका विवेक (ज्ञान) होनेपर भी उनका परित्याग नहीं कर पाते। इस प्रकार गम्भीर विचार करनेसे यह सिद्ध हो जाता है कि कोई भी सारे मानव-जीवनको अविवेकजन्य

दुःखोंसे भी अत्यन्त विनिर्मुक्त नहीं कर सकता। प्रारब्धजन्य दुःखोंकी निवृत्ति तो सिद्धान्तमें ही स्वीकार नहीं। ऐसी दशामें दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्तिरूप मुक्तिकी प्राप्तिके लिये साधन-धाम मानव-जीवन मिला है—वेदादि सद्ग्रन्थोंके इस कथनका क्या तात्पर्य है ? सो बतानेकी कृपा कीजिये।

समाधान—ऐसा लगता है कि आपने जीवन-दर्शनका गम्भीर अध्ययन, मनन एवं चिन्तन किया है। सद्ग्रन्थों तथा संतोंके वचनोंको जीवनमें उतारनेका प्रयत्न किया है। वास्तविक बात यही है कि जीवन रहते पूर्ण दुःख-निवृत्ति हो ही नहीं सकती। यही कारण है श्रीरामानुजाचार्य, गौतम, कणादादि आचार्य जीवन्मुक्ति स्वीकार नहीं करते। श्रीशंकराचार्य आदि आचार्य जो जीवन्मुक्ति मानते हैं उनका भी तात्पर्य यह नहीं है कि जीवनमें प्रारब्धजन्य दुःखोंकी भी निवृत्ति हो जायगी। प्रारब्धभोगको अनिवार्य तो सभीने स्वीकार किया है। श्रीशंकराचार्यजीद्वारा जीवन्मुक्तिके स्वीकारका तात्पर्य केवल इतना ही है कि जीवन रहते ही यह ज्ञान हो सकता है कि आत्मा स्वरूपतः पूर्ण दुःख-निवृत्तिरूप ही है, उसमें वास्तविक दुःखोंका सर्वथा अभाव है।

वेदादि सद्ग्रन्थों तथा संतोंने जो यह कहा है कि 'पूर्ण दुःखनिवृत्तिरूप मुक्तिके लिये ही साधन-धाम मानव-जीवन मिला है' उसका भी तात्पर्य यह नहीं है कि इसी जीवनमें पूर्ण दुःखोंकी निवृत्ति हो जायगी। उसका भी तात्पर्य यह है कि इस मानव-जीवनमें अपनी योग्यताके अनुसार हम ऐसे साधनका अनुष्ठान कर सकते हैं, जिससे दुःखोंका आधार अन्य जीवन ही धारण न करना पड़े। अतः आपके विचारके साथ वेदादि सद्ग्रन्थोंके तात्पर्यका कोई विरोध ही नहीं है।

कथामृतम्

कलिनाशक नल-दमयन्ती-चरित्र

(श्रीहरिकृष्णजी दुजारी)

दमयन्तीने केशिनीके द्वारा लाया हुआ बाहुकका बनाया फलका गूदा चखा एवं केशिनीकी बातें सुनकर वह पूर्णरूपसे इस निश्चयपर पहुँच गयी कि बाहुक सारथि वास्तवमें राजा नल ही हैं। दमयन्ती अत्यन्त दुःखी हो विलाप करने लगी। थोड़ी देर बाद उसने केशिनीको पुनः अपने दोनों बच्चोंके साथ बाहुकके पास भेजा। बाहुकने अपने दोनों बच्चों इन्द्रसेना एवं इन्द्रसेनको देखते ही दौड़कर छातीसे चिपका लिया और फूट-फूटकर रोने लगा। उसने केशिनीसे कहा, 'भद्रे ! ये दोनों बालक मेरे बच्चों-जैसे ही हैं। इसलिये मुझे इन्हें देखकर रोना आ गया। हमलोग यहाँके अतिथि हैं। तुम्हें बार-बार आते देख लोग आशङ्का करेंगे, अतः तुम चली जाओ।' केशिनीने आकर पुनः सभी बातें दमयन्तीको बतायीं। दमयन्तीके मनमें निश्चय हो गया कि बाहुक उसके पति राजा नल ही हैं। कुलीन-सदाचारिणी नारियाँ अपने बड़े अभिभावक माता-पिता आदिकी आज्ञाके बिना किसी भी पराये पुरुषसे कमा एकान्तमें नहीं मिलतीं। वे सदैव मर्यादाका पालन करती हैं। मर्यादा ही नारियोंका आभूषण होता है। दमयन्ती बाहुकके राजा नल होनेके संदेहको पूर्णरूपसे निवारण करनेके लिये स्वयं उससे मिलना चाहती थी, परंतु बिना माता-पिताकी आज्ञाके वह मिले कैसे ? उसने केशिनीको अपनी माताके पास भेजा और उससे कहा—'बहिन ! तुम माता-जीको पूरी बातें अच्छी तरह समझा देना, बाहुकके सभी लक्षण राजा नलसे मिलते हैं, परंतु इस संदेहके निवारणके लिये मैं यहाँ उनको बुलाकर मिलना चाहती हूँ। इसके लिये तुम उनसे आज्ञा ले आओ।'।

केशिनीके निवेदन करनेपर दमयन्तीके माता-पिताने उसको जो भी पाया समझकर बाहुकके मिलनेकी आज्ञा दे

दी। कुलभूषणा दमयन्तीने माता-पिताकी आज्ञा लेकर बाहुकको अपने महलमें बुलाया। मलिनवस्त्रा, अत्यन्त दुःखिनी दमयन्तीने बाहुकसे पूछा—'बाहुक ! क्या आपने पुण्यश्लोक राजा नलको देखा है, जो अपनी सोयी हुई निर्दोष पत्नीको जंगलमें असहाय अर्धवस्त्रावस्थामें छोड़कर चले गये। एक दिन उन्होंने सब देवताओंके सम्मुख मेरा हाथ पकड़कर प्रतिज्ञा की थी कि मैं तेरा ही अनुगत होकर रहूँगा—उनका वह सत्य कहाँ चला गया।' दमयन्तीके मुँहसे ऐसी करुण बातें सुनते ही बाहुक फूट-फूटकर रोने लगा एवं अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे उसने अपनेको नल स्वीकार किया और बोला—'शुभे ! मेरे सम्पूर्ण वैभवका नाश होना एवं तुम्हें त्याग देना—सब मैंने कलियुगके वशीभूत होकर ही किया था। मेरा इसमें कोई दोष नहीं है। देवि ! मुझे क्षमा करो। तुम्हारी शापानिसे दग्ध कलियुग मेरे अंदर निवास कर रहा था। मेरे परिश्रम एवं तपस्यसे कलियुग परास्त हो चुका है। अतः अब हमारे दुःखोंका अन्त हो जायगा। प्रिये ! कोई भी नारी अपने अनुरक्त एवं भक्त पतिको कैसे त्यागकर दूसरे पुरुषका वरण कर सकती है ? जबसे मैंने सुना कि दमयन्ती दूसरे पतिका वरण करेगी, मुझे विश्वास नहीं हुआ, मुझे अत्यन्त दुःख हुआ।' हाथ जोड़े दमयन्ती बोल उठी—'देव ! मेरे नाथ !! मुझे क्षमा करें। मुझपर तनिक भी संदेह न करें। मैं सत्यकी शपथ खाकर कह रही हूँ कि मैंने कभी कोई असदाचरण नहीं किया। आपका पता लगानेके लिये ही पहले मैंने पर्णाद नामक ब्राह्मणको भेजा था और बादमें सुदेव ब्राह्मणसे दूसरे ही दिन स्वयंवरका संदेश कहलाया था। प्रभो ! मैं जानती थी कि इस पृथ्वीपर एक ही दिनमें सौ योजनकी दूरी

रथकी सवारीसे आपके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं तय कर सकता । आपको यहाँ शीघ्र बुलानेके लिये ही मैंने यह योजना बनायी थी ।' वह पुनः बोली—'हे वायुदेव ! हे प्रचण्ड किरणोंवाले सूर्यदेव ! हे चित्तके अभिमानी देवता चन्द्रदेव ! आपलोग विश्वके समस्त भूतोंके साक्षी हैं । यदि मैंने पाप किया है तो आपलोग तुरंत इसी क्षण मेरे प्राणोंका हरण कर लें । देव ! आपलोग प्रत्यक्ष होकर मेरे पतिदेवसे मेरी सत्यताको स्पष्ट करें ।'

पतिव्रता नारीमें अनुपम तेज होता है । पतिव्रता अपने तेजसे वायुकी, सूर्यकी एवं चन्द्रमाकी गति भी रोक सकती है । उसकी बड़ी महिमा है

पुरुषाणां सहस्रं हि सती स्त्री समुद्धरेत् ।
पतिः पतिव्रतानां च मुच्यते सर्वपातकात् ॥
नास्ति तेषां कर्मभोगः सतीनां व्रततेजसा ।
तया स्वार्थं च निष्कर्मा मोदते हरिमन्दिरे ॥

(स्कन्दपुराण)

'सती अपने सतीत्व-बलसे सहस्रों मनुष्योंका उद्धार कर सकती है । सती स्त्रीका पति सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है । पतिव्रत्यके तेजसे सतीके स्वामीको कर्मफलका भोग नहीं करना पड़ता, वह सारे कर्मबन्धनसे छूटकर सतीके साथ भगवान्‌के परम धाममें आनन्दलाभ करता है ।'

दमयन्तीके द्वारा देवताओंका इस तरह आवाहन करनेपर अन्तरिक्षलोकसे वायुदेव बोले—'राजन् ! दमयन्ती परम पतिव्रता एवं शीलव्रता नारी है । इसने कभी कोई पाप नहीं किया है, इसके साक्षी हम हैं । इसका चरित्र परम उज्ज्वल है । केवल तुम्हें खोजनेके लिये इसने यह उपाय किया था ।' वायुदेवके ऐसा कहते समय आकाशसे पुष्प-वर्षा होने लगी । अब तो महाराज नलके लिये शङ्काका कोई स्थान ही नहीं रहा । उन्होंने नागराज कर्कोटकका स्मरण करके उसके दिये वस्त्रको ओढ़ लिया और अपने असली स्वरूपको प्राप्त कर लिया । यह मेरी न्याययुक्त बात है । यदि तुम यह न चाहो तो

अपने पतिदेवका असली स्वरूप देखते ही दमयन्ती प्रफुल्लित हो उठी । उसका हृदय गद्गद हो गया और वह अपने पतिदेवके हृदयसे लगकर अश्रुपात करने लगी । वे दोनों दम्पति रातभर अपने साथ घटी पुरानी घटनाओंको एक दूसरेसे कहते रहे ।

दमयन्तीके माता-पिताको जब राजा नलके असली रूपमें प्रकट होनेका पता लगा, तब उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई । वे लोग बड़े हर्षोल्लासके साथ राजा नल एवं बेटी दमयन्तीसे मिले । महाराज भीमने विदर्भराज्यमें उत्सवका आयोजन किया । ब्राह्मणोंको बहुत धन-सम्पत्ति दान की गयी । देवमन्दिरों और मूर्तियोंको सजाया गया एवं पूजन किया गया । सारों ओर नगरमें उल्लासकी बाढ़ आ गयी ।

राजा ऋतुपर्णको जब यह मात्सर्य हुआ कि उनके सारथि बाहुकके वेषमें राजा नल ही थे, तब वे बड़े हर्षके साथ राजा नल एवं दमयन्तीसे मिले । राजा ऋतुपर्णने अनजानवश किसी भी प्रकारके हुए अनुचित वर्तनके लिये राजा नलसे क्षमा-याचना की । राजा नलने उन्हें याद दिलाया 'राजन् ! आपका अश्वविज्ञान मेरे पास धरोहरके रूपमें पड़ा है । आप चाहें तो उसे सीख लें ।' राजा ऋतुपर्णने शास्त्रविधिसे अश्व-विज्ञान ग्रहण किया एवं धृत्वविद्याके रहस्यको राजा नलको पुनः समझाया । इसके बाद राजा ऋतुपर्ण दूसरे सारथिके साथ अपने राज्यको लौट गये और राजा नल दमयन्तीके साथ कुछ दिन सुखपूर्वक वहीं कुण्डिनपुरमें रहे । कुछ दिन बाद निषधनरेश नल राजा भीमसे आज्ञा ले कुछ सेवकोंके साथ अपने देशको प्रस्थित हुए । अपनी राजधानीमें पहुँचकर वे अपने भाई पुष्करसे मिले और उससे बोले 'पुष्कर ! जुएमें अपना हारा हुआ राज्य एवं धन मैं पुनः जुआ खेलकर वापस जीतना चाहता हूँ ।

फिर युद्ध करके मुझे अपना राज्य जीतना होगा ।' पुष्कर अहंकारके नशेमें चूर था । उसे विश्वास था कि मुझे जुएमें कोई नहीं हरा सकता । उस दुष्टने सोचा—'इस बार जुएमें दाँव लगाकर दमयन्तीको भी जीत दूँगा ।'

राजा नल एवं पुष्करमें पुनः जुएका खेल प्रारम्भ हुआ । पुष्करने अपने सम्पूर्ण धन-राज्य एवं प्राणोत्ककी बाजी लगा दी । अन्तमें पुण्यश्लोक राजा नल विजयी हुए और पुष्करका जीवन उनके अधीन हो गया । सदाचारी राजा नलने पुष्करको क्षमा कर दिया । वे जानते थे कि पहली बार जुएमें हारना सब कलियुगकी करतूत थी । अब कलियुगको उन्होंने अपने सदाचार एवं पुरुषार्थसे परास्त कर दिया था । वे चाहते तो पुष्करसे अपनी पहली हारका बदला ले सकते थे, परंतु उनके हृदयमें दया एवं क्षमाका समुद्र बह रहा था । उन्होंने पुष्करको उसका धन एवं राज्य भी लौटा दिया । पुष्कर उनकी दयालुता एवं क्षमाशीलताको देखकर गद्गद होता हुआ लौट गया ।

निषधराजके मन्त्रिगण एवं पुरवासियोंको अपने हितैषी राजा नलको प्राप्तकर अपार उल्लास हुआ । राजा नलने विशाल सेना भेजकर रानी दमयन्ती एवं बच्चोंको विदर्भकी राजधानीसे बुलवा लिया । राज्यमें चारों ओर उत्सव होने लगा । राजा नलने विविध प्रकारसे भगवान्‌का यजन किया और ब्राह्मणोंको दान दिया । वे न्यायपूर्वक राज्य करने लगे ।

विषमावस्थितौ दैवे पौरुषेऽफलतां गते ।

विषादयन्ति नात्मानं सत्त्वोपाश्रयिणो नराः ॥

'जब दैव (प्रारब्ध) प्रतिकूल हो और पुरुषार्थ निष्फल हो जाय, उस समय भी सत्त्वगुणका आश्रय लेनेवाले मनुष्य अपने मनमें विषाद नहीं करते ।'

ककोटकस्य नागस्य दमयन्त्या नलस्य च ।

ऋतुपर्णस्य राजर्षेः कीर्तनं कलिनाशनम् ॥

'ककोटक नाग, दमयन्ती, नल तथा राजर्षि ऋतुपर्णकी चर्चा कलियुगके दोषोंका नाश करनेवाली है ।'

ये चेदं कथयिष्यन्ति नलस्य चरितं महत् ।
श्रोष्यन्ति चाप्यभीक्ष्णं वै नालक्ष्मीस्तान् भजिष्यति ॥
अर्थास्तस्योत्पत्स्यन्ते धन्यतां च गमिष्यति ।
इतिहासमिमं श्रुत्वा पुराणं शश्वदुत्तमम् ॥
पुत्रान् पौत्रान् पशून्श्चापि लभते नृपु चाश्रयताम् ।
आरोग्यप्रीतिमांश्चैव भविष्यति न संशयः ॥

'जो राजा नलके इस महान् चरित्रका वर्णन करेंगे अथवा निरन्तर सुनेंगे, उन्हें दरिद्रता नहीं प्राप्त होगी । उनके सभी मनोरथ सिद्ध होंगे और वे संसारमें धन्य हो जायेंगे । इस प्राचीन एवं उत्तम इतिहासका सदा ही श्रवण करके मनुष्य पुत्र, पौत्र, पशु तथा मानवोंमें श्रेष्ठता प्राप्त कर लेता है । साथ ही, वह निःसंदेह नीरोग और प्रसन्न होता है ।'

जुआ-शराब आदि दोषोंसे सर्वनाश हो जाता है ।
उसके लिये स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके ये वचन हैं—

स्त्रियोऽक्षा मृगया पानमेतत् कामसमुत्थितम् ।

दुःखं चतुष्टयं प्रोक्तं यैर्नरो भ्रष्टयते श्रियः ॥

तत्र सर्वत्र वक्तव्यं मन्यन्ते शास्त्रकोविदाः ।

विशेषतश्च वक्तव्यं धृते पश्यन्ति तद्विदः ॥

एकाहाद् द्रव्यनाशोऽत्र ध्रुवं व्यसनमेव च ।

अभुक्तनाशश्चार्थानां वाक्पारुष्यं च केवलम् ॥

'स्त्रियोंके प्रति आसक्ति, जुआ खेलना, शिकार खेलनेका शौक और मद्यपान—ये चार प्रकारके भोग कामनाजनित दुःख बताये गये हैं । जिनके कारण मनुष्य अपने धन-ऐश्वर्यसे भ्रष्ट हो जाता है । शास्त्रोंके निपुण विद्वान् सभी परिस्थितियोंमें इन चारोंको निन्दनीय मानते हैं, पर दूतक्रीडाको तो जुएके दोषको जाननेवाले लोग विशेष रूपसे निन्दनीय समझते हैं । जुएसे एक ही दिनमें सारे धनका नाश हो जाता है । साथ ही जुआ खेलनेसे उसके प्रति आसक्ति होनी निश्चित है । समस्त भोग-प्रदार्थोंका बिना भोगे ही नाश हो जाता है और बदलेमें केवल कटुवचन सुननेको मिलते हैं ॥—समाप्त

सुख और शान्तिकी कुंजी हमारे ही हाथमें

(लेखक—श्रीदुर्गाप्रसादजी मंडेलिया)

मनुष्य अपने जीवनमें यही चाहता है कि वह सुखी रहे, उसे समृद्धि प्राप्त हो और जो भी काम करे उसमें सफलता मिले । किंतु सुख उसे कैसे मिले ? इस विषयमें गीताके दूसरे अध्यायमें दो बड़े महत्त्वके सूत्र हैं । पहला सूत्र है—‘अशान्तस्य कुतः सुखम्’ और दूसरा है—‘स शान्तिमाप्नोति न कामकामी’ । अर्थात् जिसके मनमें शान्ति नहीं, वह सुखी नहीं रह सकता । जो मनुष्य कामनाओंके वशीभूत होता है, उसे शान्ति मिलनेकी नहीं । गीतामें यह भी बताया गया है कि कोई भी मनुष्य कर्मसे कभी छुटकारा नहीं पा सकता । यह भी सत्य है कि कामनारहित कर्म कभी होता नहीं । कर्म और कामना दोनों एक साथ हैं । ऐसी हालतमें कामनाओंको दो भागोंमें बाँटना होगा—१. शान्ति भंग करनेवाली और २. शान्ति प्रदान करनेवाली । शान्ति भंग करनेवाली कामना रखनेवालोंका (आसुरी सम्प्रदावालोंका) आचरण किस प्रकारका होता है, वह गीताके सोलहवें अध्यायके श्लोक १० से १८ तक देखना चाहिये ।

इसी प्रकार शान्तियुक्त कामनावाले अर्थात् दैवी सम्प्रतिष्ठाले मनुष्योंका वर्णन गीतामें अनेक स्थानोंपर आया है । सोलहवें अध्यायमें श्लोक २ और छठे अध्यायमें श्लोक १७, २७ में इनका विस्तारसे वर्णन है ।

अन्तमें गीताके १८ वें अध्यायमें कहा गया है—
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।

तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥
(६२)

अर्पण कर दो । उसीकी कृपासे तुम परम शान्ति और कभी न अन्त होनेवाले आनन्द-धामको पाओगे ।’

भगवान् कृष्ण अर्जुनसे कहते हैं कि ‘तुम भगवान्की शरणमें जाओ, जिससे तुम्हें परम शान्ति मिलेगी, परम सुख मिलेगा ।’ प्रश्न होगा कि कृष्ण तो स्वयं भगवान् थे तो फिर कौन-से भगवान्की शरणमें जानेके लिये अर्जुनको कहा गया ? कृष्ण अर्जुनके सखा हैं, इसलिये अर्जुन कभी-कभी भूल जाते थे कि कृष्ण ‘भगवान्’ हैं और उनसे सखाका ही बर्ताव कर लेते थे । इसी-लिये अर्जुनने कृष्णसे अपना असली रूप दिखानेका आग्रह किया ।

भगवान्का असली रूप इन साधारण नेत्रोंसे तो देखा नहीं जा सकता, इसलिये उन्होंने अर्जुनसे वह रूप ‘दिव्य नेत्रों’ से देखनेको कहा । दिव्य नेत्र अर्थात् ‘ज्ञान-चक्षु’ । अर्जुनने ज्ञान-चक्षुओंसे भगवान्का जो रूप देखा, उसका ग्यारहवें अध्यायमें विस्तारसे वर्णन है, किंतु संक्षेपमें वह रूप था—

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।

अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥

(१३)

अर्जुनने उस समय अनेक प्रकारसे पृथक्-पृथक् रूपोंमें सम्पूर्ण जगत्के अत्यन्त आश्चर्यमय रूपको देवोंके देव श्रीकृष्ण भगवान्के शरीरमें एक ही जगह स्थित देखा । इस सारे विश्वको ही भगवान्के रूपमें देखा ।

अर्जुनने भगवान्के रूपमें जगत्को देखा, तो अब हमें जगत्में भगवान्की शरणमें जानेका अर्थ है, विश्वमें

‘अर्जुन ! तू सम्पूर्ण विश्वमें अपने-आपको प्रसादात् स्थान में पाशी है, तबकी शरणमें जाना अर्थात् यही

काम करना जो उन प्राणियोंके हितमें हो और ऐसी ही इच्छा रखना जिससे सब प्राणियोंका हित हो। इस प्रकारकी यह बुद्धि भी कैसे प्राप्त होगी, इसे गीताने बताया दिया है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥
(१८ । ४६)

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
इदामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
(१० । १०)

अर्थात् 'जिस परमात्मासे सर्वप्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सारा जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरको अपने स्वाभाविक कर्मद्वारा पूजकर मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त होता है। निरन्तर भगवान्‌के ध्यानमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भगवान्‌को भजनेवाले भक्तोंको भगवान् शुद्ध बुद्धि दे देते हैं।' यहाँ यह भी ध्यान देनेकी बात है कि गीतामें भोग भोगनेकी मनाही नहीं है, भोगोंमें आसक्ति रखना बुरा बताया गया है। किसी वस्तुमें आसक्ति रखनेका अर्थ है उस वस्तुके बिना मिले उसे दुःख हो, उसके बिना उसका काम चलना कठिन हो जाय। ये श्लोक बड़े ही महत्त्वके हैं; क्योंकि इनमें अपने-अपने स्वाभाविक कर्तव्य-कर्म करते रहनेको ही 'भगवान्‌की पूजा' कहा गया है। इसी प्रकारके आचरणवाले मनुष्योंको ही भगवान् सद्बुद्धि देते हैं और शुद्ध बुद्धि प्राप्त होनेसे ही मनुष्य शान्ति पा सकता है, सुख पा सकता है।

गायत्रीमन्त्रमें भी यही प्रार्थना की गयी है कि हमारी बुद्धिका विकास हो, जिससे हमें सत्कर्मोंमें लगनेकी प्रेरणा मिले। हमलोग भगवान्‌से प्रार्थना करते हैं, मन्दिरों और तीर्थोंमें जाते हैं, इसका वास्तविक उद्देश्य सद्बुद्धि प्राप्त करनेके लिये ही होना चाहिये। भगवान्‌की पूजासे सद्बुद्धि मिलती है। सद्बुद्धिसे हमारे ज्ञान-चक्षु खुल जाते हैं।

जाते हैं और सारे विश्वमें भगवान्‌के दर्शन होने लगते हैं। फिर हमारे सारे कर्म जन-कल्याणके लिये होते रहनेसे हमें शान्ति और सुख अनायास प्राप्त हो जाते हैं।

अब मनुष्यकी दूसरी इच्छा सम्पत्ति और विजय प्राप्त करनेकी कैसे पूरी हो? इस विषयमें भी गीताके साक्ष्य देखें। वहाँ अठारहवें अध्यायके अन्तमें संजयने धृतराष्ट्रको बताया है—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्धुवा नीतिर्मतिर्मम ॥
(१८ । ७८)

'जहाँ योगेश्वर कृष्ण और धनुर्धर अर्जुन हैं, वहीं श्री, विजय, विभूति और अचल नीति है—ऐसा मेरा मत है।'

जहाँ भगवान् कृष्ण हैं वहाँ समृद्धि और जहाँ अर्जुन हैं वहाँ विजय। यह तो पहले ही बताया है कि कृष्ण कौन हैं? यह सारा विश्व ही कृष्णमय है। अब प्रश्न उठता है कि अर्जुन कौन हैं? गीताका सारा उपदेश सुननेके बाद अर्जुनने कहा कि 'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा', 'करिष्ये वचनं तव' अर्थात् अर्जुन वही हैं जिनका मोह नष्ट हो गया और जो श्रीकृष्णके उपदेशोंका पालन करें। इन श्लोकोंका सार एक ही श्लोक है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥
(९ । २७)

'जो भी तुम काम करो, जो भी भोजन करो, जो भी हवन करो, जो भी दान करो, जो भी तप करो, वह सब मुझे अर्पण कर दो।' सब कुछ जनताके कल्याणकी भावनासे करो। इसीलिये जो मनुष्य ऐसा करता है, वही अर्जुन है और अर्जुन होते ही उसे श्री और विजयकी प्राप्ति निश्चित है।

सारांश यह कि यदि हमें शान्ति पानी है—सुख प्राप्त करना है तो 'अर्जुन' बनना होगा। विश्वमें भगवान्‌का रूप देखना होगा। बिना आसक्तिके भोगोंको भोगते हुए अपना-अपना कर्तव्य निष्ठापूर्वक निरन्तर करते रहना होगा। परमार्थ और स्वार्थका भेद मिटाना होगा। इसके बाद जीवन सुखमय-ही-सुखमय है। जो करे सो निहाल। ध्यान देनेकी बात है कि यह जीवनमें शान्ति

पानेका, सुखी रहनेका सुखवा किसी धर्म-विशेष, जाति-विशेष या देश-विशेषके ही लिये नहीं है। यह तो सार्वभौम है—समस्त मनुष्य-जातिके लिये है। इसलिये गीताको 'ब्रह्म-विद्या' कहा गया है। परमात्माकी दी हुई यह विद्या सारे विश्वके कल्याणके लिये है। जो भी चाहे वही इससे लाभ उठा सकता है, सुख और शान्तिकी कुंजी हमारे ही हाथमें है।

आदर्श ईमानदारी

बाबू टटकौड़ी घोष मुर्शिदाबाद जिलेके एक जमींदारकी सेवामें एक बहुत छोटी जगहपर नियुक्त थे। ये बहुत ईमानदार और कर्तव्यशील थे। इन गुणोंके कारण अपने स्वामीकी दृष्टिमें वे बहुत चढ़ गये थे। कुछ समय बाद जमींदार महाशय बीमार पड़े और कलकत्तेके एक अस्पतालमें उनका देहान्त हो गया। उनका लड़का उस जायदादका उत्तराधिकारी बना, परंतु वह बहुत छोटा था और जायदादपर ऋण बहुत था। इसलिये 'कोर्ट आफ वार्डस्' ने जायदादको उस समयतक अपने प्रबन्धमें ले लेनेका निश्चय किया, जबतक लड़का बालिग न हो जाय। कलकत्तेकी आज्ञासे जाँच आरम्भ हुई कि मृत जमींदारने अपने पीछे कितनी सम्पत्ति छोड़ी है और सारी चल-अचल सम्पत्तिकी हिसाब क्या है। एक अफसर यह जाँच करनेके लिये जमींदारके घरमें आकर ठहरा। उसके आनका समाचार पाकर बाबू टटकौड़ी घोष उससे मिले। उन्होंने उसके सामने पचास हजार रुपयेके नोट, एक बहुमूल्य सोनेकी घड़ी और चैन रख दी और कहा कि इन वस्तुओंकी कोई चर्चा कहींपर कागजातमें नहीं है, न उनके बारेमें जायदादका प्रबन्धक अथवा अन्य कोई धरोहर व्यक्ति ही जानता है। जमींदार साहबने वे वस्तुएँ गुप्तरूपसे मुझे दी थीं और कहा था कि 'जब इनकी आवश्यकता होगी तब वह वापस ले लेंगे।'

कलकत्ते साहब घोषबाबूकी यह ईमानदारी देखकर दंग रह गये। बाबू टटकौड़ी घोष जवान थे, बहुत थोड़े पढ़े-लिखे थे और गरीबीमें ही अपने दिन काट रहे थे। इतना बड़ा खजाना उनके लिये कम न था। वे यदि चुपचाप बिना किसीकी बतलाये उसे गबन कर जाते, तो भी उनकी ईमानदारीपर संदेह करनेका अवसर किसीको न मिल पाता। इतने बड़े प्रलाभनका त्याग देखकर कलकत्तेने उन्हें आदरकी दृष्टिसे देखा और उनके साथ बड़े सम्मानका व्यवहार किया। इसके बाद एक डिप्टी मैजिस्ट्रेटको जायदादका प्रबन्धक नियुक्त किया गया और इसपर विशेष ध्यान दिया कि बाबू टटकौड़ी घोष अपनी नौकरीपर बने रहें। इसके बाद जब उसकी नियुक्ति अन्यत्र कहींपर हो गयी, तब उन्हींको जायदादका प्रबन्धक बनाया गया। इनकी यह आदर्श ईमानदारी सुदाके लिये शिक्षाप्रद हो गयी।

गीता-माधुर्य—१२

(भक्त्येव स्वामी भीरामसुखदासजी महाराज)

[बारहवाँ अध्याय]

अर्जुन बोले—अभी आपने जैसा कहा है, कई तो निरन्तर आपमें लगे रहकर आप (सगुण-साकार) की उपासना करते हैं और कई आपके अव्यक्तरूप (निर्गुण-निराकार) की उपासना करते हैं । उन दोनों प्रकारके उपासकोंमें कौन-से उपासक श्रेष्ठ हैं ? ॥१॥

भगवान् बोले—मुझमें मनको लगाकर नित्य-निरन्तर मुझमें लगे हुए जो भक्त परम श्रद्धासे युक्त होकर मेरी उपासना करते हैं, उन्हें मैं सर्वश्रेष्ठ उपासक मानता हूँ ॥ २ ॥

परंतु जो आपके अव्यक्त रूपकी उपासना करते हैं, उन्हें ?!

सब जगह समबुद्धिवाले और प्राणिमात्रके हितमें रत रहनेवाले जो मनुष्य अपनी इन्द्रियोंका संयम करके सब जगह परिपूर्ण, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल, अनिर्देश्य, ध्रुव, अक्षर और अव्यक्तकी उपासना करते हैं, वे भी मुझे ही प्राप्त होते हैं ॥ ३-४ ॥

तो फिर आपकी भक्ति करनेवाले श्रेष्ठ कैसे हुए भगवन् ?

अव्यक्तमें आसक्त चित्तवाले जो मनुष्य अव्यक्त स्वरूपकी उपासना करते हैं, उन्हें अपने साधनमें कष्ट अधिक होता है; क्योंकि देहभिमानियोंको अव्यक्तकी प्राप्ति बड़ी कठिनतासे होती है, परंतु जो सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके मेरे परायण हो गये हैं और अनन्यभावे मेरा ही ध्यान करते हुए मेरी उपासना करते हैं, हे पार्थ ! उन मुझमें लगे हुए चित्तवाले भक्तोंका मैं स्वयं मृत्युरूप संसार-सागरसे बहुत शीघ्र उद्धार करनेवाला बन जाता हूँ ॥ ५ ॥

ऐसा भक्त मैं कैसे बन सकता हूँ भगवन् ?

तुम मुझमें ही मनको और मुझमें ही बुद्धिको लगाओ । मुझमें ही मन-बुद्धि लगानेके बाद तुम मुझमें ही निवास करोगे—इसमें संशय नहीं है । यदि इस तरह मन-बुद्धिको मुझमें स्थिर करनेमें तुम असमर्थ हो, तो हे धनंजय ! तुम अभ्यासयोगके द्वारा मेरी प्राप्ति की इच्छा करो । यदि तुम अभ्यासयोगमें भी असमर्थ हो, तो मेरे लिये कर्म करनेके परायण हो जाओ । मेरे लिये कर्म करनेसे भी तुम सिद्धिको प्राप्त हो जाओगे । यदि मेरे योग (समता) के आश्रित हुए तुम मेरे लिये कर्म करनेमें भी असमर्थ हो, तो मन-इन्द्रियोंको वशमें करके सम्पूर्ण कर्मोंके फल (फलासक्ति) का त्याग कर दो ॥ ८—११ ॥

इस क्रमसे तो कर्मोंके फलका त्याग करना चौथे नम्बरका (निरुद्ध) साधन हुआ न भगवन् ?

नहीं भैया ! योग (समता) रहित अभ्याससे शास्त्रीय ज्ञान श्रेष्ठ है, योगरहित शास्त्रीय ज्ञानसे ध्यान श्रेष्ठ है और योगरहित ध्यानसे कर्मोंके फलका त्याग करना श्रेष्ठ है; क्योंकि त्यागसे तत्काल ही परमशान्ति प्राप्त हो जाती है ॥ १२ ॥

भगवन् ! उपर्युक्त चारों साधनोंमेंसे किसी एक साधनसे आपको प्राप्त हुए सिद्ध भक्तके क्या लक्षण होते हैं अर्थात् उसमें कौन-कौन-से गुण होते हैं ?

उसका किसी भी प्राणीके साथ द्वेष नहीं होता । इतना ही नहीं, उसकी सम्पूर्ण प्राणियोंके साथ मित्रता (प्रेम) और करुणा (दयालुता) रहती है । वह और वास्तवसे रहित, क्षीणशील तथा सुख-दुःखकी

प्राप्तिमें सभ रहता है । वह प्रत्येक परिस्थितिमें निरन्तर संतुष्ट रहता है । शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि उसके वशमें रहते हैं । उसके मन-बुद्धि मेरे ही अर्पित रहते हैं ऐसा वह दृढ़ निश्चयी भक्त मुझे प्यारा है ॥ १३-१४ ॥

और कौन आपका प्यारा है ?

जिस भक्तसे किसी मनुष्यको उद्वेग नहीं होता और जिसे स्वयं भी किसी मनुष्यसे उद्वेग नहीं होता, ऐसा हर्ष, ईर्ष्या, भय और उद्वेगसे रहित भक्त मुझे प्यारा है ॥ १५ ॥

और कौन आपका प्यारा है भगवन् ?

जो अपने लिये किसी भी वस्तु, व्यक्ति आदिकी आवश्यकता नहीं रखता, जो बाहर-भीतरसे पवित्र है, जो दक्ष (चतुर) है अर्थात् जिसके लिये मनुष्यशरीर मिला है, वह काम (भगवान्को प्राप्त करना) उसने कर लिया है, जो संसारसे उपराम रहता है, जिसके हृदयमें हलचल नहीं होती तथा जो भोग और संग्रहके लिये किये जानेवाले सम्पूर्ण कर्मोंका सर्वथा त्यागी है, ऐसा भक्त मुझे प्यारा है ॥ १६ ॥

और कौन आपका प्यारा है ?

जो न तो अनुकूलताके प्राप्त होनेपर हर्षित होता है

और न प्रतिकूलताके प्राप्त होनेपर द्वेष करता है तथा जो न दुःखदायी परिस्थितिके प्राप्त होनेपर शोक करता है और न सुखदायी परिस्थितिकी इच्छा ही करता है तथा जो शुभ-अशुभ कर्ममें राग-द्वेषका त्यागी है, ऐसा भक्त मुझे प्यारा है ॥ १७ ॥

और कौन आपका प्यारा है भगवन् ?

जो शत्रु-मित्र, मान-अपमान, अनुकूलता-प्रतिकूलता और सुख-दुःखमें समता रखनेवाला और संसारकी आसक्तिसे रहित है, जो निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला है, जो मननशील है, जो जिस-किसी प्रकारसे भी शरीरका निर्वाह होनेमें संतुष्ट है, जो रहनेके स्थान तथा शरीरमें भी ममता-आसक्तिसे रहित है और जो स्थिर बुद्धिवाला है, ऐसा भक्त मुझे प्यारा है* ॥ १८-१९ ॥

अभीतक तो आपने अपने पाँच सिद्ध भक्तोंके लक्षण (गुण) बताये, अब यह बताइये कि आपको अत्यन्त प्यारा कौन है ?

जो श्रद्धा-प्रेमपूर्वक मेरे परायण हो गये हैं और अभी कहे हुए सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंका रुचिपूर्वक सेवन करनेवाले हैं, ऐसे साधक भक्त मुझे अत्यन्त प्यारे हैं ॥ २० ॥

सच्चा विवेक

(रचयिता—श्रीराधाकृष्णजी श्रोत्रिय, 'साँवरा')

मेरो कह्यो करि मन पकु ।

जगत-जलमें जलज-ज्यों रहि, हरि-चरन मति टेकु ॥

सकल नाते हितहि राते ननु निबाहत नैकु ।

'साँवरे' सौ प्रीति बाढ़ै, सोइ साँचु विवेकु ॥

* यहाँतक पाँच प्रकारके सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंका वर्णन हुआ है । पाँचों प्रकारके भक्तोंके अलग-अलग लक्षण बतानेका तात्पर्य यह है कि भक्तोंके स्वभाव, उनकी साधन-पद्धतियाँ अलग-अलग होती हैं । इसलिये किसी भक्तमें मुख्यरूपसे कोई लक्षण घटता है तो किसीमें कोई लक्षण घटता है; परंतु संसारके सम्बन्धका त्याग और भगवान्में प्रेम सबका समान ही होता है ।

कहानी

पगली

(लेखक—पं० श्रीकृष्णानन्दजी अग्निहोत्री)

उसके मुखसे तेज टपकता था । ऐसा प्रतीत होता था कि ज्ञान और वैराग्यका स्रोत वह रहा है । किंतु उसके गुणोंको पहचाननेवाला उस गाँवमें कोई न था । लोग उसे 'पगली' कहा करते थे । उसके कार्योंसे भी यही निश्चित किया जा सकता था कि वह पगली है । उसकी परवा किसीको भी न थी और न वह स्वयं किसीकी परवा करती थी । हाँ, परवा करती थी उनकी, जो उसके हृदयमें बसे हुए थे । उन्हींके लिये उसने लोक-लज, मान-मर्यादा—सबका त्याग कर दिया था ।

बचपनमें ही उसके माता-पिता परलोक सिंघार गये थे । वे कुलीन थे । जब 'पगली'के घरमें कोई न रहा, तब उसके पड़ोसके एक ब्राह्मणने दया करके अपने पास रखा । उन ब्राह्मण-देवताका नाम था पं० लक्ष्मीनारायण । वे बहुत सज्जन थे एवं प्रातःकाल उठकर दो-ढाई घंटे तक ईश्वराराधन किया करते । 'पगली' भी उनका साथ देती । जबतक 'पगली' नासमझ थी तबतक वह पण्डितजीके पास ही बैठकर भगवान्की मूर्तिकी ओर एकटक निहारती और कुछ गुनगुनाकर कहती । पूजाके लिये वह फूल तोड़ लाती और अनन्य प्रेमसे भगवान्का शृङ्गार करती । उसके इस सरल एवं भक्तिपूर्ण भावसे पं० लक्ष्मीनारायणका हृदय भी भर आता ।

पं० लक्ष्मीनारायणने उसकी लज्जा देखकर उसे उपदेश देना प्रारम्भ कर दिया । बड़े प्रेमसे वे उसे भागवत, रामायण आदि ग्रन्थ विस्तारपूर्वक सुनाते और समझाते । ज्ञान और वैराग्यका भी विवरण पूर्णतया कर दिया करते थे । थोड़े ही दिनोंमें पगलीका हृदय भगवान्के प्रति विश्वास तथा प्रेम और इस मिथ्या जगत्के प्रति अविश्वास और

और क्रमशः उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त होता गया । यहाँतक कि पं० लक्ष्मीनारायण स्वयं उससे अपनी त्रुटियाँ जानने लगे । पगलीको देखकर पण्डितजीका हृदय गद्गद हो जाता । किंतु यह सुख उन्हें अधिक समयके लिये न मिल सका । उनका कार्य प्रायः समाप्त हो चुका था । इतना ही था कि वे भगवद्दत्त पात्रमें भगवद्दत्त रस भर दें और उसे भगवदर्पण करके भगवद्भाममें चले जायँ । ऐसा ही हुआ ।

पगली अकेली पड़ गयी । पगलीका इस संसारमें अब कोई न रह गया । उसे अब अकेला रहना होगा । पगलीको पण्डितजीके देहान्तका सांसारिक दुःख न था । दुःख था केवल इस बातका कि वह उनकी सेवा न कर सकी थी ।

x

x

x

इस समय उसकी आयु बीस वर्षके लगभग थी । उसे संसारका पूर्णतया ज्ञान था । वह सुन्दरी थी । रूप मनुष्यको न जाने किस समय अंधा बना दे । वह अच्छी तरह जानती थी कि उसका रूप और उसकी आयु उसके सबसे बड़े शत्रु हैं । इनका उसने अच्छा प्रतिकार कर रखा था । उसने अपने केशोंको जटाओंके रूपमें परिणत कर लिया और उन जटाओंको अपने मुखपर बिखेर रखा करती थी । उसकी बड़ी-बड़ी आँखें जटाओंमें छिप जाती थीं । अपने शरीरपर वह सदा धूल लपेटे रहती थी । गाँवमें जब वह निकलती, एक विचित्र शब्द करती हुई चबूती । लोग उसे पगली कहने लगे थे । कोई भी उसे पहचान न सका ।

वह पगली अवश्य थी, किंतु लोग यह भी जानते थे कि गाँवमें जहाँ कहीं भी हरि-चर्चा होगी, वहाँ पगली सबसे पहले पहुँचेगी। लोग जानते थे कि पगली स्वभावतः भगवान्‌के गुणानुवाद सुनने आ जाती है। वह कभी बोलती अवश्य नहीं, पर बात सबकी समझती थी। वह पूर्णतया विक्षिप्त नहीं थी। उसके कुछ कार्य ऐसे थे, जो बड़ों-बड़ोंको विस्मयमें डाल देते थे।

एक बार गाँवमें एक बहुत बड़े विद्वान् पण्डितका आगमन हुआ। ग्रामवासियोंने पण्डितजीके सामने भागवत सुनानेका प्रस्ताव रखा। पण्डितजी सहमत भी हो गये। पण्डितजी एक-ही-दो दिन रुक सकते थे। उतने समयमें पूरी कथा नहीं सुनायी जा सकती थी। इसलिये उन्होंने दशमस्कन्धसे श्रीकृष्णकी लीलाओंका वर्णन करना ही उपयुक्त समझा। भगवान्‌की लीलाओंमें किसे आनन्द नहीं आता। फिर ऐसे सुचारु-रूपसे वर्णित प्रसङ्गोंको पण्डितजीके रसीले और कोमल कण्ठसे निकली हुई व्याख्याके साथ कौन नहीं सुनता।

गाँवमें पाठ होने लगा। गाँवभरके लोग जमा हुए। पगली सबसे पहले बैठी थी। उसका स्थान पण्डितजीके आसनसे बिल्कुल मिला ही हुआ था। एक ओर महिलाओंका समाज और दूसरी ओर पुरुषोंका। समाँ बँधा हुआ था। 'रुक्मिणी-हरण' लीला चल रही थी। सबके श्रवण भागवतामृतका पान कर रहे थे। पण्डितजीने बड़े ही सुरीले कण्ठमें कहा—

यस्याङ्घ्रिपङ्कजः सनपनं महान्तो
वाञ्छन्त्युमापतिरिवात्मतमोऽपहस्यै ।
वर्धन्मुजाक्ष न लभेय भवत्प्रसादं
जह्यामसूत्रवतकुशाञ्छतजन्मभिः स्यात् ॥

सब लोग निस्तब्ध थे। अभीतक पगलीके केवल आँसू ही निकल रहे थे, किंतु इस श्लोकको सुनते ही वह छूट पड़ी। वह आवेशको न रोक सकी। उसे धुध-

बुध न रह गयी। उसे मूर्च्छा आ गयी। कुछ भक्तजनोंने मुँहसे निकल ही तो पड़ा, 'धन्य है। कितना गाढ़ प्रेम है।'

कथाको आरम्भ हुए देर हो चुकी थी। अध्याय भी समाप्त ही था। पगली ही कथाकी समाप्तिका कारण बनी। लोगोंने उसे घेर लिया। कोई हवा करने लगा और कोई ठंडे जलके छँटे देने लगा। सब लौकिक उपचारमें लीन थे, किंतु किसीको यह न मादम था कि इस समय पगली स्वयं ही रुक्मिणीके स्थानमें थी और भगवान्‌का आवाहन कर रही थी। वह दूसरे ही संसारमें थी। वह देख रही थी कि भगवान् उसकी पुकार सुनकर दौड़े आ रहे हैं ! उन्होंने आकर उसकी ओर प्रेमभरी मुसकानसे देखा। पगली कृतकृत्य हो गयी। उसने अपनी आँखें प्रेमसे विह्वल होकर मूँद लीं।

जब उसने आँखें खोलीं, तब देखा कि गाँववाले उसे घेरे खड़े हैं। उसने तुरंत अपना शरीर सँभाला और पगलीका-सा अभिनय करती हुई वहाँसे चली गयी।

× × ×

पगलीमें केवल भक्तिमात्र ही न थी। उसे तो सब जीवोंमें भगवान्‌की ही झलक दिखलायी पड़ती थी। वह जब कभी एकान्तमें होती, गुनगुनाने लगती—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥

किसी भी जीवको यदि वह दुःखी देख लेती तो स्वयं बहुत दुःखी होती और उसके दुःख-निवारणके लिये ईश्वरसे प्रार्थना करती एवं स्वयं भरसक प्रयत्न करती।

एक बार उसके गाँवका एक गरीब बालक बीमार पड़ा। उसकी आयु चौदह-पंद्रह वर्षकी थी। उसके कोई भी नहीं था। गाँवमें धनी लोगोंके यहाँ कुछ काम मिल जाता, उसीसे उदर-पूर्ति कर लेता था। इस समय वह असहाय था। वह चारपाईसे उठ भी नहीं सकता था। पगलीको किसी प्रकार इसकी खबर लगी। वह निरन्तर

वसी बालकके यहाँ रहने लगी। यह उसकी कोई नयी बात न थी। कई बार ऐसा हो चुका था।

तीन दिनसे उस बालककी हावत बहुत ही खराब थी। पगली रातमें भी वहीं रहने लगी। उस रातको उसके बचनेकी आशा न थी। पगली तीन दिनसे बिल्कुल न सो सकी थी। दो बजेके लगभग उसे जोरकी झपकी आयी। बालक जग रहा था। वह पगलीको समझना चाहता था। उसका हृदय तो वह अच्छी तरह समझ चुका था; किंतु उसका नैष और हाव-भाव नहीं समझ पाया था। वह बड़ी दुविधामें था। उसका हृदय कहता था यह पगली नहीं, देवी है। किंतु लोग और उसके हाव-भाव यही कहते थे कि वह पगली है। वह इसी विचारमें लीन हो गया था। उसे यह नहीं मालूम था कि उसकी क्या हावत है।

पगली स्वप्न देख रही थी। वह भगवान्‌के पास पहुँच गयी है। भगवान् सामने खड़े मुसकरा रहे हैं। उनका अभय हस्त उसके सिरपर है। उसने भगवान्‌से प्रार्थना की—‘देव! इस बालकको स्वस्थ कर दो।’ भगवान्‌ने ‘एवमस्तु’ कहा और अन्तर्धान हो गये।

वास्तवमें तो वह स्वप्न देख रही थी, किंतु वह वास्तव उसके मुखसे निद्रावस्थामें निकल पड़ा। बालकका ध्यान टूट गया। उसे आश्चर्य हुआ। पगली कुछ कह रही है। इसके पहले गाँवके किसी भी पुरुष या स्त्रीने पगलीके मुखसे कोई भी सार्थक शब्द न सुना था।

बालकने देखा, पगली सो रही है। जब वह जगी, तब उसने पगलीसे कहा—“माँ! मेरी आखिरी बात मान लो। अब मैं थोड़ी ही देरका मेहमान हूँ। अब तुम अपनेको मुझसे न छिपाओ। मैंने सुना है कि तुम स्वप्नमें किसीसे कह रही थी—‘देव! इस बालकको

स्वस्थ कर दो।’ अब छिपानेसे कोई लाभ नहीं। माँ, शीघ्र कहो न!”

पगली अपनेको न रोक सकी। उसके आँसू बह रहे थे। उसने बालकको अपना ही पुत्र समझा और उससे स्वप्नका हाल तथा अपना सारा वृत्तान्त कह सुनाया। पगलीका हाल सुनकर उसके त्याग, भक्ति, ज्ञान और वैराग्यका हाल सुनकर बालकको रोमाञ्च हो आया। उसकी पगलीके प्रति श्रद्धा जाग उठी और भगवान्‌में भी अनन्य प्रेम तथा विश्वास हो गया। उसने पगलीको अपनी माता मानकर प्रणाम किया।

× × ×

बालक अब स्वस्थ हो गया था। पगलीने उसे मना कर दिया था कि वह किसीको भी यह सब वृत्तान्त न सुनाये। बालक भी अब पगलीके साथ ही रहने लगा और शिक्षा पाने लगा।

× × ×

पगलीका प्रातःकालका नियम था कि वह सबसे पहले जाकर नदीमें स्नानकर लौट आती थी। यह क्रम उसका प्रतिमासका था। जाड़ेके दिन थे। सर्दी भी अधिक पड़ रही थी। किंतु पगलीको शीतका कुछ भी डर न था। वह नित्य-प्रति सदाकी भाँति स्नान करने जाती थी। एक दिन उसे सर्दी लग गयी। घर लौटते-लौटते उसे बहुत तीव्र ज्वर हो आया। उसके सारे शरीरमें पीड़ा होने लगी और वह बढ़ती ही गयी। उसकी हावत दिन-प्रतिदिन खराब होती गयी। बालक उसकी शुश्रूषा करता था। किंतु वह निराश हो उठता था। इसपर उसका कोई वश न था।

पगलीके दिन प्रायः समीप थे। अब वह मृत्यु-शय्यापर पड़ी थी। उसे सुनाया जा रहा था। उस-

उन्मादमें कभी वह गीताका पाठ करने लगती और कभी भगवत्कीर्तन करते-करते उठ खड़ी होती । बाळक यह अवस्था देखकर घबरा गया । वह लाचार था । बैयोंने उस 'पगली'का उपचार करनेसे इन्कार कर दिया था ।

योद्धी देरके लिये 'पगली' शान्त हुई और उसने बाळकको बुझाकर कहा, 'बेटा ! बुरा न मानना, मेरा समय अब आ गया है । मैं तुमसे कुछ कहना चाहती हूँ । संसारमें विषयोंके सङ्गके कारण ही मनुष्यको फिर जन्म लेना पड़ता है । मैंने सबसे छुटकारा पा लिया । तुम्हें मालूम है—मैं आजन्म कुमारी ही रही । मैंने तुम्हें पुत्र-सा मानकर रखा है, किंतु मैं यह नहीं चाहती कि इस स्नेहके कारण मुझे फिर जन्म लेना पड़े । यह स्नेह मेरी आत्मापर कोई प्रभाव नहीं डाल सकता । मैं मोहमें नहीं फँसी हूँ । फिर भी तुम्हारा कल्याण ही मेरा मनोरथ है । तुम भी इस संसारसे अलग ही रहना । अपने गुरुके स्थानपर कमलको रखो । देखो, वह जलमें ही उत्पन्न होता है । जलसे ही उसकी शोभा है, बेटा !

किंतु क्या कभी जल कमलके ऊपर असर कर सकता है ! एक बिन्दु भी कमलपर नहीं ठहर सकता । बेटा ! हम लोगोंका जीवन इन्हीं विषयोंसे घिरे हुए वातावरणमें हुआ है । इन्हींके सहारे हम जीते हैं । किंतु देखो, ये हमपर असर न कर पायें ।'

'पगली' कहतै-कहतै सहसा रुक गयी । उसकी दृष्टि छतकी ओर एकटक लगी हुई थी । वहाँ वह देख रही थी—भगवान् खड़े हैं, पीताम्बर धारण किये हैं । वे एक हाथमें मुरली लिये हैं । अधरोपर मीठी मुसकान थी । उन्होंने कुछ इशारा किया । पगलीके ओठ खुल गये । एक हल्की-सी मुसकान फूट पड़ी । उसके मुखसे यह मन्त्र निकला—ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।'

पगलीकी आत्मा उसके प्रियतममें मिल गयी थी । वह अब आवागमनके चक्रसे मुक्त थी । एक स्त्री होकर उसने वह किया जो बड़े-बड़े वीर, साहसी, मनस्वी मुनिगण बड़े परिश्रमके बाद करनेमें असफल ही रहते हैं । भगवान्के भक्तोंकी लीला न्यारी ही है ।

'बोलो भक्त और उनके भगवान्की जय ।'

नंदके नंदन पर लगन लगी रहै !

सुंदर सुजान पर, मंद मुसुकान पर,
बाँसुरी की तान पर डौरन ठगी रहै ।
मूरति बिसाल पर, कंचन की माल पर,
खंजन-सी चाल पर खौरन खगी रहै ॥
भौंह धनु मैन पर, लौने युग-नेन पर,
सुद्धरस बैन पर 'वाहिद' पगी रहै ।
चंचल से तन पर, साँवरे बदन पर,
नंदके नंदन पर लगन लगी रहै ॥

साधनोपयोगी पत्र

(१)

जगत्का स्वरूप और मनुष्यका कर्तव्य

सादर हरिस्मरण । आपका पत्र मिले बहुत दिन हो गये, उत्तर लिखनेमें विलम्ब हो गया, इसके लिये क्षमा करें । आपके विस्तृत पत्रके उत्तरमें मेरा तो यही निवेदन है कि इस दृश्यमान जगत्में जन्म-मरणका खेल अविराम चल रहा है । यहाँ इस प्रकृतिके जादूघरमें कुछ भी स्थिर या नित्य नहीं है । संहारको हृदयसे लगाये हुए ही सृजनका उदय होता है । आज जो सुन्दर है, मनोहर है, सौन्दर्य-माधुर्यसे भरा है, सरल बालकेलिसे सबको प्रमुदित कर रहा है, वही कुछ दिनोंमें यौवन, जरा और व्याधिकी घाटियोंको लौघता हुआ आसनमृत्यु होकर अत्यन्त कुरूप, भीषण, मलिन, बीभत्स, दुर्गन्धयुक्त और महान् दुःख-दोषमय बनकर सबके लिये कष्टप्रद हो जाता है । यही नहीं, अपितु अन्तमें चेतन आत्मायुक्त सूक्ष्मशरीरसे वियुक्त होकर वह सर्वथा वृणित, हेय, अस्पृश्य हो जाता है एवं बिना किसी सहायुभूतिके हम उसे श्मशानमें ले जाकर फूँक डालते हैं या भीषण सुनसान स्थानमें जमीन खोदकर गाड़ देते हैं । यही तो परिणाम है इस शरीरका ! आज प्यारी पत्नी, प्राणप्रियतम पति, श्रद्धास्पद माता-पिता, अभिन्नहृदय मित्र, प्राणोंके पुतले प्यारे पुत्र आदिको परस्पर पाकर सब अपनेको परम सुखी समझते हैं, सबके प्राण हँसते हैं, परंतु दूसरे ही दिन मृत्युके भयानक आघातसे हमारे इन प्राणप्यारे आत्मीयोंका निधन हो जाता है, हमारा प्यारका भण्डार टूट लिया जाता है । हम हाय-हाय करते हैं, रोते हैं, चिच्छाते हैं, पर कुछ भी नहीं कर पाते । यही हाल संसारकी सभी वस्तुओंका है ।

असलमें यह अपनापन, यह ममता ही हमारे दुःखोंमें है । जो पाकर इसता है, उसे

खोकर उससे कई गुना अधिक रोना ही पड़ता है और यहाँका यह पाना होता ही है खोनेके लिये—जन्म होता ही है मृत्युके लिये—संयोग उत्पन्न ही होता है वियोगके निश्चित विधानको साथ लेकर ! हम कुछ दिन रोते हैं, दुःखी होते हैं, फिर उसी भाँति हम भी इस चोलेको छोड़कर नयेके लिये चलते हैं, चोला पुराना होनेपर भी मोहवश छोड़ते हम ध्वराते हैं, ममत्वके कारण किसी प्रकारकी भी जरा-सी विनाशकी आशङ्का हमें न्याकुल कर देती है; परंतु विनाश तो अवश्यभावी है, नवीन सृजनके लिये उसकी आवश्यकता है, वह होता ही है और होता ही रहेगा । कबतक ?—सो कौन कह सकता है; परंतु इतना तो कहा जा सकता ही है कि यह जन्म-मरणयुक्त जगत् चाहे सदा रहे, परंतु इसमें हमारा जो विषयोंके साथ ममत्वका सम्बन्ध है, वह तो सदा कभी नहीं रहेगा । आज हम अपने इस शरीरमें माता-पिता, स्त्री-स्वामी, पुत्र-कन्या आदिसे प्रेम करते हैं, उनके बिना क्षणभर भी नहीं रह सकते । उनका जरा-सा अदर्शन भी हमें असह्य हो जाता है । पर जब हम उन्हें छोड़ जाते हैं और दूसरे चोलेमें पड़च जाते हैं, तब उनकी याद भी नहीं करते । न मादृम कितनी बार कितनी योनियोंमें हमारे प्रिय माता-पिता, स्त्री, पुत्र, यश, कीर्ति, घर, जमीन हो चुके हैं, परंतु आज हमें उनकी याद भी नहीं है । हमारे वे पहलेके माता-पिता कहाँ—किस दशामें हैं ? हमारी प्राणप्रियतमा पत्नी किस शरीरमें है ? उसकी क्या दशा है ? हमारे आत्मासे भी बढ़कर प्यारे पुत्र-पौत्र किस स्थितिमें हैं ? हमें क्या उनका कुछ भी पता है ? हमें उनकी दशा जाननेके लिये कुछ भी उत्कण्ठा, इच्छा या जिज्ञासा है ? हम उन्हें भूल गये हैं । जैसे हम उन्हें भूल गये हैं, वैसे ही वे भी हमें भूल गये हैं ।

उनको भूलकर आज हम अपने नये संसारमें, नये घरमें, नये सम्बन्धियोंके प्रेममें मस्त हैं। आगे चलकर इनको भी भूल जायेंगे।

ऐसे विनाशी क्षणस्थायी सम्बन्धको यथार्थ सम्बन्ध समझकर सुखी-दुःखी होना मूर्खता नहीं तो क्या है? ऐसे सम्बन्धको लेकर ममत्व करना और फिर रोना-पीटना धोखा ही तो है। इसमें जो नित्य है, सत्य है, जिससे कभी बिछोह नहीं होता, जो सदा साथ ही रहता है और रहेगा, उसीसे प्रेम करना चाहिये। वे हैं श्रीकृष्ण, उन्हींके अनेकों नाम हैं। वे एक ही हैं। वे ही हमारे सब अवस्थाओंके और सब समयके मित्र हैं। वे नित्य सुन्दर हैं, मधुर हैं। वे सदाके सङ्गी हैं। वे हमारे प्राणोंके प्राण हैं, आत्माके आत्मा हैं। इन श्रीकृष्णको छोड़कर अन्य जिस-किसीसे भी प्रेम करोगे उसीमें धोखा होगा, जिसे चाहोगे वही दगा देगा। न मादृम हमने कितनी योनियोंमें सुखके संसार रचे हैं, वहाँ हमारे सभी सम्बन्धी थे। हम सबको धोखा दे आये। आज उनकी तनिक भी चिन्ता हमें नहीं है। वे हमसे प्रेम करते थे, परंतु हमसे उन्होंने क्या पाया? कुछ नहीं बस, यही बात है। इसलिये एकमात्र श्रीकृष्णको ही अपना समझो। उन्हींसे प्रेम करो। सबमें उन्हींको देखकर फिर सबसे प्रेम करो। किसीमें विशेष ममत्व नहीं करना चाहिये। जीवन-मृत्यु उनका—श्रीकृष्णका खेल है। सबमें सब समय सब ओरसे उन्हींको देखो, उन्हींको पकड़ लो। तभी जीवन सार्थक होगा, तभी सुखके, सच्चे सुखके—परमानन्दके यथार्थ दर्शन होंगे।

(२)

वैराग्य और भजन कैसे हो ?

x x x x आपका एक पत्र पहले मिला था। कुछ दिन बाद दूसरा भी मिला। हर समय वैराग्य बना रहे तथा भगवान्‌का स्मरण होता रहे—इस तरह—

की आपकी अभिलाषा बहुत ही प्रशंसनीय है। जगत्‌की अनित्यता, दुःखरूपता और भयानकताका अच्छी तरह ज्ञान होनेके बाद जगत्‌के पदार्थोंमें आसक्ति नहीं रहती। जबतक इनमें नित्यता, सुख और रमणीयता भासती है तभीतक इनमें राग है। इसके लिये बार-बार संसारके भोगोंमें जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधिरूप दुःख-दोष देखना चाहिये तथा सत्संग, विचार और विवेकके द्वारा रमणीयता, सुख और नित्यताका बाध करना चाहिये। वास्तवमें ये सब विषय जिस रूपमें दीखते हैं, उस रूपमें हैं ही नहीं। हमें अपनी मोहाच्छादित दृष्टिके कारण ही इनका स्वरूप यथार्थ नहीं दीखता, इसीसे इनमें फँसावट हो रही है। जहरसे भरे हुए नकली सोनेके घड़ेके समान, अथवा सुगन्धित इत्र आदि वस्तुओंसे ढकी हुई विष्टाके समान अथवा सोनेकी खोलीसे मढ़े हुए जहरीले सर्पके समान अथवा राखसे ढकी हुई प्रबल अग्निके समान संसारके विषय बार-बार मृत्यु देनेवाले, वृणित, जहरीले तथा जलानेवाले हैं। इस प्रकार समझकर तथा इनकी परिवर्तनशीलता, क्षणभङ्गुरता, दृष्टिभेदसे अनुकूल एवं प्रतिकूलरूपता, वियोगशीलता, मृत्युमयता आदिपर विचार करके इनसे मन हटाना चाहिये। इनका रूप जब ठीक-ठीक समझमें आ जायगा, तब इनमेंसे राग निकलकर आप ही इनसे वैराग्य हो जायगा। फिर जिस प्रकार हम जानबूझकर अफीम नहीं खाते, अग्निमें हाथ नहीं डालते, साँपको हाथमें नहीं लेते, विष्टाको नहीं छूते—इसी प्रकार विषयोंसे अलग हो जायेंगे। इनमें प्रीति होना तथा उन्हें ग्रहण करना तो अलग रहा, इनका चिन्तन भी हमें नहीं सुहायेगा। विषयोंकी चर्चा भी खारी लगने लगेगी।

इसी प्रकार भगवान्‌का स्मरण न होनेमें भी प्रधान कारण भगवान्‌के यथार्थ तत्त्व, प्रभाव, रहस्य, महिमा और गुणोंके ज्ञानका अभाव ही है। श्रीभगवान्‌के एक

भी गुणका रहस्य, एक भी नामकी महिमा, एक भी चरित्रका प्रभाव, एक भी शक्तिका तत्त्व जान लिया जाय अथवा एक भी रूपकी जरा-सी भी झाँकीका ज्ञान हो जाय तो फिर भगवान्‌से क्षणभरके लिये भी चित्त न हटे। फिर विषयोंमें दुःख-दोष देखकर उनसे चित्त हटानेकी आवश्यकता नहीं रहती, अपने-आप ही विषयोंमें आसक्ति नष्ट हो जाती है, जिस प्रकार भगवान्‌की जरा भी झाँकी होनेके बाद विषयोंका सब रस फीका हो जाता है। असल बात तो यह है कि फिर उसकी तात्त्विक दृष्टिमें विषयोंका अस्तित्व ही नहीं रहता। एकमात्र सच्चिदानन्दधन भगवान्‌की ही अखण्ड, अचल, सनातन, अज, अविनाशी, सर्वव्यापिनी सत्ता रह जाती है। उसे फिर आनन्दधन परमात्माके सिवा और कुछ नहीं भासता। इस अवस्थामें उससे परमात्माका असली भजन अपने-आप ही होने लगता है। वास्तवमें सूर्य और दीपकके उदाहरणकी तुलना परमात्माके ज्ञान और विषयोंके साथ नहीं हो सकती, तथापि समझनेके लिये उदाहरण दिया जाता है।

संसारके विषयोंका स्वरूप तथा परमात्माकी महिमाको यथार्थरूपसे जाननेके लिये सत्संग तथा भजन ही प्रधान साधन है। वैराग्यवान् सच्चे विरक्त, अनन्य भगवत्प्रेमी और सम्यग्दर्शी ज्ञानियोंके सत्संगसे विषयोंकी तथा भगवान्‌की स्वरूप-स्थिति सुनने-जाननेमें आती है। फिर भजन करनेसे मलका नाश होनेपर सुनी तथा जानी हुई बातोंको हृदय ग्रहण करता है। इसलिये जहाँतक बन पड़े सर्वस्व त्यागकर भी भजन तथा सत्संगके लिये मनुष्यको पूरा प्रयत्न करना चाहिये।

(३)

भजनके लिये श्रद्धापूर्वक प्रयत्न करना चाहिये

सुप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। भजन और श्रद्धापूर्वक प्रयत्न ही तो कोई कठिनाई है न कम है।

और न किसी प्रकारकी हानि ही है। हमलोग सुनते हैं, पढ़ते हैं, लोगोंसे कहते भी हैं, परंतु खयं करते नहीं। यही बड़ी त्रुटि है। कठिनाई भी केवल इसी बातकी है कि हम श्रद्धापूर्वक चेष्टा नहीं करते। श्रद्धायुक्त चेष्टा हो तो कोई कारण नहीं कि भजन न हो और दैवी सम्पत्तिके गुण न आवें। इस काममें तो भगवान् तथा संतोंकी भी सहायता प्राप्त होती है और इनमें लाभ भी सबसे बड़ा है। आपको मैं क्या समझाऊँ। असलमें मैं अभी खयं ही समझ नहीं सका हूँ। समझता तो मेरे जीवनका प्रत्येक क्षण भजनमें ही बीतता। मैं केवल सद्गुणोंका ही खजाना बन जाता, परंतु जितना समय दूसरोंको समझानेमें बीतता है, उतना अपने समझनेमें तथा करनेमें नहीं लगता।

आपने मेरे अनुभव पूछे, सो मैं क्या बताऊँ। इतना ही बतला सकता हूँ कि करुणा-वरुणालय भगवान्‌की सभी जीवोंपर असीम कृपा है। वे सबके परम सुहृद् हैं, इसलिये मैं भी उनकी कृपासे वञ्चित नहीं हूँ। इतनी विशेषता समझिये कि मुझे समय-समयपर उनकी कृपाका किंचित् अनुभव होता है, इससे मुझे उसका प्रत्यक्ष लाभ मिल जाता है। यह भी उनकी कृपा ही है। फिर अनुभव यदि किसीको कुछ होते भी हैं तो वे उसके अपने लिये ही होते हैं; दूसरोंको बतानेसे उसे कोई लाभ नहीं होता। मान लीजिये, मैं कह दूँ कि मुझे अमुक महान् लाभ हुआ है तो इससे आपको क्या मिला। अनुभवोंका विज्ञापन नहीं हुआ करता। वे तो अपने जीवनकी गुप्त सम्पत्ति होते हैं, इसलिये क्षमा करें।

यह स्मरण रखें कि भगवान् सबके हैं और सबके लिये एक-से हैं।

पुष्प बपुलक धारि वा जीव सरासर कोइ।

आप श्रद्धापूर्वक उनका भजन कीजिये और भगवान्‌को प्रिय लगनेवाले सद्गुणोंको धारण कीजिये। फिर आपको स्वयं ऐसे-ऐसे विलक्षण अनुभव होंगे कि जिनको पाकर आप निहाल हो जायँगे। मनुष्य-देह थोड़े ही दिनोंके लिये है और है भी विघ्न-वाधाओंसे भरा हुआ। अतएव बिल्म्ब करना बुद्धिमानी नहीं।

(४)

निःसंकोच भजन कीजिये

प्रिय महोदय ! सप्रेम हस्तिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपने लिखा कि 'भजन तो करता हूँ, पर माळा न रखनेपर तो बहुत भूल जाती है और माळा रखनेपर संकोच होता है। कुछ मित्र व्यङ्ग किया करते हैं और कुछ लोग भक्त समझकर सम्मान भी करने लगते हैं। अतएव क्या करूँ ?' इसके उत्तरमें निवेदन है कि यदि माळा रखे बिना भूल जाती है तो सारा संकोच छोड़कर अवश्य माळा रखनी चाहिये। इसमें लज्जा-संकोचकी क्या बात है ? मित्र लोग हँसी करते हैं तो करने दीजिये। हँसी करनेमें उनको सुख मिलता है तो आनन्दकी ही बात है। आपकी किसी क्रियासे मित्रोंका मनोरञ्जन हो, उन्हें सुख मिले, यह तो आपके लिये सुखकी बात है। पर कहीं ऐसा तो नहीं है कि संकोच तो आपका अपना मन ही करता हो और अपना दोष छिपानेके लिये मित्रोंकी हँसीकी बात गौण होनेपर ही मनने उसको प्रधानता दे दी हो। ऐसा हो तो आपको सावधान हो जाना चाहिये और मनको समझा देना चाहिये कि इसमें लज्जाकी बात तनिक भी नहीं है। लज्जा आनी चाहिये—झूठ बोलनेमें, गंदी बगवान निकालनेमें, निन्दा-चुगली या व्यर्थकी बात करनेमें, किसीक-अहित करनेमें, कोप और लोभके प्रयत्नमें भाग करनेमें—

वश होनेमें, परस्त्रीको बुरी दृष्टिसे देखने या मनमें भी बुरा भाव लानेमें, दूसरेकी वस्तुको—किसीके स्वत्वको हरण करनेमें, चोरी, ठगी और छल-कपट करनेमें तथा दूसरे-दूसरे बुरे काम तन-मन-वचनसे करनेमें। मनुष्यका बड़ा दुर्भाग्य है कि वह इन सब कामोंके करनेमें तो तनिक भी नहीं लजाता, प्रत्युत कोई-कोई तो ऐसे कार्यमें गौरवतक मानते हैं तथा गर्व करते हैं और भगवान्‌का नाम लेने या भजन करनेमें उन्हें लज्जा आती है ! वस्तुतः यही एक ऐसा श्रेष्ठ कर्म है, जिसे लज्जा छोड़कर करना श्रेष्ठ माना गया है। लज्जाको तिलाञ्जलि देकर भजन करनेवाला प्रेमी स्वयं ही पवित्र नहीं होता, अपितु वह समस्त विश्वको पवित्र करता है—

वाग्‌गद्‌गदा द्रवते यस्य चित्तं

रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च ।

विलज्ज उद्‌गायति नृत्यते च

मद्‌भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति ॥

(भीमद्वा० ११ । १४ । १४)

उद्धवजीसे भगवान्‌ कहते हैं—

‘जिसकी वाणी प्रेमसे गद्‌गद हो रही है, जिसका चित्त द्रवित होकर बहने लगा है, जो प्रेममें कभी रोता है, कभी खिलखिलाकर हँसने लगता है और कभी सारी लज्जा छोड़कर उच्च स्वरसे गाने और नाचने लगता है, मेरा वह भक्त त्रिभुवनको पवित्र कर देता है।’

भगवान्‌का जो नाम विवश होकर एक बार लेनेपर भी मनुष्यको पापरहित कर देता है, उस महान्‌ सहायक, परम कल्याणकारक, परम हितैषी भगवन्नामके लेनेमें लज्जा कैसी ? और उस प्रिय नामका स्मरण करानेवाली कल्याणकारिणी माळाके रखनेमें संकोच कैसा ? नामके

अवशेनापि संकीर्त्य सकृद् यन्नाम मुच्यते ।
भयेभ्यः सर्वपापेभ्यस्तं नमाम्यहमच्युतम् ॥
(स्कन्दपु०)

‘जिनके नामका एक बार भी और विवश होकर भी संकीर्तन कर लेनेपर समस्त भयों और समस्त पापोंसे मनुष्य मुक्त हो जाता है, उन अच्युत भगवान्‌को मैं नमस्कार करता हूँ ।’

अवशेनापि यन्नास्मि कीर्तिते सर्वपातकैः ।
पुमान् विमुच्यते सद्यः सिंहव्रस्तेर्मुगैरिव ॥
(विष्णुपु० ६।८।१९)

‘जैसे सिंहके भयसे मृग हूट जाता है वैसे ही उन भगवान्‌का नाम विवश होकर भी लिया जानेपर मनुष्य तुरंत समस्त पापोंसे हूट जाता है ।’

आपन्नः संसृतिं श्रोत्रं यन्नाम विवशो गृणन् ।
ततः सद्यो विमुच्येत यद् विभेति स्वयं भयम् ॥
(श्रीमद्भा० १।१।१४)

‘जिन भगवान्‌से स्वयं भय भी भयभीत रहता है, उन भगवान्‌के नामका उच्चारण मनुष्य कभी विवश होकर भी यदि कर लेता है तो वह उसी क्षण मुक्त हो जाता है ।’

रही सम्मान और बड़ाईसे डरनेकी बात सो यह बहुत अच्छी बात है । मनुष्यको मान-बड़ाईसे अवश्य ही डरना चाहिये । यह मीठा विष है, जो प्राप्त करनेके समय मीठा लगनेपर भी वास्तवमें सतत विषमयी मृत्युके चक्रमें डालनेवाला है; परंतु इसके भयसे भगवन्नामकी

याद दिलानेवाली मालाका त्याग कर देना बुद्धिमानी नहीं है । भगवान्‌के सामने आप सदा ही विनम्र और विनयशील होकर रहिये । फिर जगत्‌का सम्मान आपका कुछ नहीं बिगाड़ सकेगा और भगवान्‌का नाम लेनेवालेको तो सदा विनम्र रहना ही चाहिये । महाप्रभु श्रीचैतन्यदेवजीने कहा है—

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना ।
अमानिता मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः ॥

‘जो अपनेको राहके तिनकेसे भी अधिक नीचा समझते हैं, जो वृक्षके समान सहनशील (जो काटने-तोड़ने और जलानेवालेका भी उपकार ही करते हैं ऐसे) हैं; स्वयं अमानी हैं और सबको मान देते हैं, उन्हींके द्वारा श्रीहरि सदा कीर्तनीय हैं ।’

आप अपने मनमें मान-बड़ाईको स्थान मत दीजिये, फिर लोगोंके द्वारा किया जानेवाला सम्मान आपका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकेगा । भगवत्प्रेमी सूरदासजीके शब्दोंमें मनसे बार-बार यही कहते रहिये—

मन तोसों केतिक बार कही ।
समुझ न चरन गहत गोविंद के उर-अव-सूल सही ॥
सुमिरन-ध्यान कथा हरि जू की यह एकौ न भई ।
लोभी लंपट बिषयन-सैं हित यह तेरी निवही ॥
छाँड़ि कनक, मनि, रतन अमोलक काँच की किरच गही ।
ऐसो तु है चतुर बिबेकी पथ तजि पियत मही ॥
ब्रह्मादिक रुद्रादिक रवि सपि देखे सुर सबही ।
सूरदास भगवंत-भजन विनु सुख तिहुँ लोक नहीं ॥

विद्यादान

प्राचीन कालमें हमारे देशके गृहस्थ धनका उत्तरदायित्व स्वीकार करते थे । उचित काल, स्थान और पात्रमें दान देनेसे वे अपने-आपको धन्य मानते थे । जो लोग अधिकारी थे, वे स्वेच्छासे ज्ञानके वितरणका उत्तरदायित्व समझते थे । वे जानते थे कि उन्हींने जो कुछ पाया है, उसे देनेका सुयोग यदि नहीं मिला तो पाना ही अपूर्ण है । गुरु और शिष्यके बीच इस परस्पर सहज सापेक्ष सम्बन्धको ही मैंने विद्यादानका प्रधान माध्यम समझा है ।

—महाकवि श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर

पढ़ो, समझो और करो

(१)

सच्ची सीख

एक गाँवमें एक ब्राह्मण रहते थे। उनका नाम था फकीर-चन्द। वे आर्थिक दृष्टिसे फकीर भले ही हों, मनके बड़े उदार थे। उदार होनेके साथ-साथ वे बड़े सज्जन, समाज-सेवी और प्रकाण्ड विद्वान् भी थे। समाजमें उनका बड़ा सम्मान था और लोग उन्हें 'पण्डितजी' कहा करते थे। पण्डितजीकी दयालुताकी चर्चा चारों ओर थी। उनकी दयालुता मानवैतक ही सीमित नहीं थी, अपितु पशु-पक्षियोंको भी उनकी दयालुताका उतना ही लाभ मिलता था। सयाने पण्डितजीसे जितने प्रसन्न थे, वच्चे उतने ही अप्रसन्न; क्योंकि जब भी वच्चे अपने स्वभाववश चिड़ियोंके अण्डे फोड़ देते या बच्चोंको मार देते थे तो उन्हें पण्डितजी बड़े प्रेमसे समझाते और समझानेपर भी जब वच्चे नहीं मानते, तब पण्डितजी उन्हें दण्डित भी करते थे। शारीरिक दण्डोंमें बच्चोंसे दौड़ लगवाना या उनका कान ऐंठ देना ही पण्डितजीको ठीक लगता था।

पण्डितजीका एक पुत्र भी था। उसका नाम था मोहन। मोहन बड़ा नटखट, ऊधमी, वाचाल, निर्दय और झगड़ातूट्टंगका लड़का था। पण्डितजीको उसकी ये सब बातें पसंद नहीं थीं, परंतु जब-जब भी वे उसे दण्डित करते, तब-तब उसकी माँ मोहनका पक्ष ले लेती थी। परिणाम यह हुआ कि मोहन बिगड़ता गया। उसने जुआ खेलना तो सीखा ही, चोरी करना भी सीख गया, परंतु पण्डितजीको इस बातका बिल्कुल पता नहीं था कि मोहनमें जुआ खेलने और चोरी करनेकी आदत भी है।

धीरे-धीरे वह अपने साथियोंको भी सताने लगा।

उन्हें कभी-कभी पीट भी देता था। सभी उससे भय खाने लगे। उसकी इन बुरी आदतोंके विषयमें पण्डितजी भी कुछ नहीं कह पाते थे। उन्हें भी अपनी अप्रतिष्ठाका भय होने लग गया था। बेचारे असमझस और चिन्ताकी स्थितिमें थे।

समय बीतता गया, मोहन बिगड़ता ही गया। माँ उसका पक्ष लेती रही, परंतु कोई बात एक लम्बे समयतक छिपी नहीं रहती। एक दिन संयोगवश पूरनसे कुछ अण्डे टूट गये। चिड़ियाँ चीं-चीं करने लगीं और वच्चे डरने लगे कि कहीं पण्डितजीको पता न लग जाय। होनहारकी बात; पण्डितजी उधरसे ही निकल रहे थे। उन्होंने देखा कि अण्डे फूटे पड़े हैं और चिड़ियाँ चीं-चीं करके अपनी वेदना व्यक्त कर रही हैं। पण्डितजीसे चिड़ियोंका रुदन नहीं सहा गया और उन्होंने पूरनके कान इतने जोरसे ऐंठ दिये कि वह रो पड़ा और रोते-रोते कहने लगा—'अपने मोहनसे तो कुछ कहते नहीं, जो प्रतिदिन अण्डे तोड़ता है !' रमेश और महेशकी भी बन पड़ी। उन्होंने भी जोड़ दिया—'वह तो जुआ भी खेलता और चोरी भी करता है।' सभीने उसकी पुष्टि भी कर दी। पण्डितजी वच्चोंके मुखसे इतनी बातें सुनकर आश्चर्यमें ही नहीं पड़े, बड़े दुःखी हो गये और यह सोचते हुए कि वच्चे ठीक ही तो कहते हैं, वहाँसे चले गये।

उन्होंने मोहनसे कुछ नहीं कहा और स्वयं ही अपनी भूलका प्रायश्चित्त करने लगे। एक समय भोजन करना और किसीसे भी अधिक बात न करना—यही उनका प्रायश्चित्त था। कई दिनतक तो मोहन और उसकी माँको इसका आभासतक न हुआ कि ऐसा क्यों है ! अन्तमें मोहन और मोहनकी माँको जब

पता लगा कि पण्डितजीके प्रायश्चित्तका कारण वे लोग ही हैं तो उन्होंने पण्डितजीसे क्षमा माँगी और कहा कि मोहन भविष्यमें ऐसा कभी नहीं करेगा। तब पण्डितजीने यहाँ कहा—‘जो माँ लाड़-प्यारके कारण हर बातमें अपने बच्चोंका पक्ष लेती है, वह उन्हें कभी भी सही रास्तेपर नहीं ला सकती। माता-पिताका लाड़ ही बच्चोंको बिगाड़ता है। जो व्यक्ति दूसरोंको सुधारना चाहता है, वह पहले स्वयंको और अपने घरवालोंको संभाले, तभी दूसरोंको सीख देनेका अधिकारी बन सकता है। अच्छाई घरसे ही प्रारम्भ होती है।’

—वैजनाथ शर्मा

(२)

पैरों-तले

माधवी बहन और मधुराय दोनों अहमदाबाद नगरमें रहते थे। अधेड़ आयु हो गयी, फिर भी खेलनेवाला भगवान् ने नहीं दिया तो नहीं दिया। अन्तमें परिवारकी ममतासे प्रेरित होकर मधुराय अपनी बहनके पुत्रको घर ले आये। बहन और बहनोई स्वर्गवासी हो गये थे। भानजेका नाम था प्रियवदन। उसका जैसा नाम वैसा ही रूप भी था। आयु मात्र सात वर्षकी थी। इस प्रकार उन्होंने अपना घर भरा-भरा किया। थोड़े दिनों बाद माधवी बहनके माता-पिता परलोकवासी हो गये। वह अपने छोटे भाईको अकेला न छोड़ सगी—अपने पास ही ले आयी। रसेन्दुकी आयु नौ वर्षकी थी। घरमें राम-लक्ष्मणकी जोड़ी हो गयी—मधुराय दम्पतिके आनन्दका पार नहीं।

दोनोंका पुत्रवत् पालन होने लगा। दोनोंको माता-पिता-जैसा प्यार मिलने लगा। खाने-पीने, घूमने-फिरने-में माता-पिताका अभाव प्रतीत न हो, इसका बराबर ध्यान रखा गया। मधुरायकी सरकारी नौकरी मध्यम स्थितिकी थी। फिर भी माधवी बहनने थोड़ा कष्ट उठाकर दोनोंको उच्चशिक्षा दिलायी। कुशाग्र बुद्धि दोनोंकी थी।

दोनों बी० काम० पास हो गये। मधुरायने भाग-दौड़ करके दोनोंको स्थानीय बैंकोंमें अलग-अलग नौकरी दिला दी। अधेड़ दम्पतिने दोनोंके योग्य कन्या खोजकर दोनोंका विवाह धूमधामसे किया। जैसे स्वयंके पुत्रोंका विवाह करते हों वैसे उनका विवाह वरके संसारका भार उन्हें सौंपकर स्वयं निवृत्त हो गये।

लगभग छः महीने सुख-शान्तिसे बीत गये, परंतु आजका युग कहाँ किसीको छोड़ता है ! दोनों पढ़ी-लिखी बहुओंको विस्तृत कुटुम्बमें अच्छा नहीं लगा। छोटी-मोटी कच-पच दोनोंमें होती ही रही और दोनोंके पतियोंकी कानाफूसी अतिशयोक्तिसे होने लगी। छोटी-छोटी बातको लेकर बहुत झगड़ा होने लगता। अधेड़ दम्पति इसे सहन करते, उसके साक्षी बनकर रहते। अन्तमें दोनों भाइयोंके मनमें गाँठ पड़ गयी और दोनोंने अपनी बदली अन्यत्र करानेके प्रार्थनापत्र दे दिये।

रसेन्दुकी बदली बम्बई हुई और प्रियवदनकी भावनगर। दोनों अलग-अलग रहने लगे। मधुराय आयु पूर्ण होनेपर नौकरीसे निवृत्त हो गये। इस बातको चार वर्ष बीत गये। एक दिन दोपहरको बम्बईसे तार आया कि ‘रसेन्दु दुर्घटनामें स्वर्गवासी हो गया।’

मधुराय और माधवी बहनको बहुत आघात लगा। वह था तो माधवी बहनका सगा भाई ही। सहोदरका संताप किसे नहीं होता। माधवी बहनने कहा—‘आज रात्रिकी दूनसे बंबई चलना चाहिये।’ मधुरायने सजल नेत्रोंसे सहमति दे दी। कार्यक्रम निश्चित हो गया। स्टेशन जानेको टैक्सी आयी। थोड़ा सामान टैक्सीपर रखा गया था तबतक पत्रवाहकने मधुरायके नामका तार लाकर उनके हाथपर रखा। तार भावनगरसे आया था—उसमें ‘प्रियवदन सीरियस’—अति बीमार है, शीघ्र आइये—ऐसा समाचार था। माधवी बहनानो सब सुन-

बूझ भुला बैठे । माधवी तार पढ़कर गम्भीर हो गयी और मधुराय द्विविधामें पड़ गये ।

टैक्सीवालेने कहा—‘सेठजी ! चलिये, बम्बईकी गाड़ीका समय हो रहा है ।’ दोनों चुपचाप टैक्सीपर बैठ गये । मधुराय शान्त थे । माधवी बहनने कहा—‘दुःखी होनेका कारण कोई नहीं है । मेरा भाई तो चला ही गया, अब तो भानजे प्रियवदनकी सेवा करके उसे बचा लेना आवश्यक है । बम्बईका रिजर्वेशन रद्द कराकर सवा नौ बजेवाली गाड़ीसे हमलोग भावनगर चलेंगे ।’ माधवी बहनके शिक्षण, संस्कार और समय-सूचकताकी यह पराकाष्ठा थी । दोनों भावनगर गये ।

प्रियवदनकी हालत गम्भीर थी । थोड़ा भी समय नष्ट किये बिना वे डाक्टरोंकी सलाहसे रोगीको गाड़ीमें लेकर अहमदाबाद आ गये । उच्च अस्पतालमें भर्ती किया गया । प्रियवदन अपने जीवनका विस्तर बाँध रहा था । डाक्टरोंकी तात्कालिक दवासे दो दिनमें प्रियवदनकी मूर्छा दूर हुई और हालत सुधरती चली गयी ।

पाँच दिन बाद माधवी बहनने कहा—‘अब प्रियवदनकी हालत ठीक है । हमें बम्बई हो आना चाहिये ।’ मधुराय एक दृष्टिसे माधवी बहनको देखने लगे और बोले—‘माधवी ! तू सत्य अर्थमें नारी है और नारायणी भी । भले संसारमें यह कहावत है कि स्त्रियोंकी बुद्धि पैरों-तले होती है, परंतु तेरे लिये यह बात असत्य सिद्ध हुई । मात्र तेरे धैर्यसे, सहनशीलतासे और समय-सूचकतासे अपने भाईकी मृत्युका दुःख मुलाकर भानजेको सँभालनेको तूने मुझे सचेत किया ।’

और पाँचवें दिन दोनों बम्बईके लिये चल दिये ।

(३)

मानवता

तीन वर्ष पूर्व प्रयागमें कुम्भ-मेला था । बहुत वर्षों बाद

महत्त्व बढ़ गया था । कोने-कोनेसे लोग त्रिवेणी-संगममें स्नान करने आ रहे थे । इस महान् अवसरका लाभ लेने हम मित्र और सम्बन्धियोंके साथ एक बसद्वारा खाना हुए । जब हम चालीस व्यक्ति मकर-संक्रान्तिके एक दिन पूर्व इलाहाबाद पहुँचे, तब सामके पाँच बजे थे । भीड़ अधिक रहनेसे बाहन यमुनाजीके पुलके इसी पार रोक दिये गये थे । हमारी-जैसी सैकड़ों बसें इसी पार लाइनमें खड़ी थीं । उन सबको नैनी जेलकी ओर जानेकी सूचना मिली । हम भी नैनी जेलके समीपके खुले खेतमें आकर खड़े हुए ।

जाड़ेके दिन, खुले खेत, जहाँ प्रकाश-पानीकी कोई व्यवस्था नहीं । जाड़ा भी जोरदार । सम्पूर्ण रात्रि रहना वहाँ अशक्य था । अब क्या करें ? शहरमें तो रहनेके लिये पहलेसे ही व्यवस्था हो गयी थी; परंतु शहर भी जा नहीं सकते थे । वहाँ आस-पास थोड़े झोंपड़े तथा खुले खेत थे । कहीं रात्रिभर रुका जा सके ऐसे स्थानकी खोजमें हम उधर बढ़े । थोड़ी दूरपर एक बँगला-जैसा बड़ा मकान देखकर उसके समीप जाकर खड़े हो गये ।

मकानमालिक पचासवर्षीय खादीधारी एक सज्जन थे, उन्हें हमने अपनी परिस्थिति बतायी और रात्रिभर रुकनेके लिये आश्रय माँगा । उन्होंने तुरंत टेलीफोन करके पुलिस-विभागसे हमारी मोटरको जानेके लिये आग्रह किया, परंतु हमारी-जैसी सैकड़ों बसोंका प्रश्न था । इससे कुछ हुआ नहीं ।

उन्होंने नौकरको बुलाकर दो बड़े कमरे हमें दिलाने और चाय-पानी, दूध, जलपान तथा विस्तर आदिकी व्यवस्था करनेको कहा । हमने उनका आभार माना ।

‘इसमें आभार क्या मानना । आप दूर गुजरातसे यहाँ आये हैं तो यह हमारा भी मनुष्यके नाने कर्तव्य

हैं कि सामर्थ्यानुसार आपकी सहायता करें। अधिक लिये निःशुल्क औषधालय चलाते और छोटे-छोटे तो कुछ किया नहीं।' बालकोंके बागमनिर भी चलाते थे। वे खेती-बाड़ीका

हमने चलते समय देखा कि हमारे-जैसे बहुतसे काम करके शेष समय जनताकी सेवामें लगाते हैं— यंत्रियोंकी इन्होंने व्यवस्था कर रखी है। ऐसी जानकारी हुई। ऐसे मानवसेवा-प्रेमियोंकी

वे आयुर्वेदके स्नातक थे। आस-पासके लोगोंके मानवता भन्य है ! —जोड़ताराम चोकसी

मनन करनेयोग्य

(१)

अब्राहम लिंकन—मानवताकी प्रतिमूर्ति

नौरव रात्रि थी। स्वध रात्रिके सन्नाटेमें प्रकृति सायँ-सायँ करती प्रतीत होती थी। अमेरिकामें गृह-युद्ध चल रहा था। युद्ध-क्षेत्रमें सैनिक विश्राम कर रहे थे; किंतु वह पहरा दे रहा था। उसे पहरेका ही कार्य सौंपा गया था। वह था एक युवा सैनिक। नाम उसका स्कॉट था। दिनभर चलनेके कारण वह थक गया था। निद्रादेवी बार-बार उसपर अपना अधिकार जमानेका प्रयत्न कर रही थीं। आखिर उससे न रहा गया। एक स्थानपर बंदूक रखकर वह सो गया। कितनी भयंकर थी वह भूल ! शत्रु मोर्चेपर ये, वह पहरेपर रखा गया था, किंतु इस संकटके समय वह सो रहा था।

संयोगवश पहरेका निरीक्षक भी उसी समय घूमता-घूमता उधर आ निकला। उसने युवकको सोते हुए देखा। क्षणभर वह ठिठका। दूसरे क्षण युवककी बंदूक उसके हाथमें थी। तब उसने युवकको जगाया। युवक एकाएक हड़बड़ा कर उठ खड़ा हुआ। सामने निरीक्षकको देखकर भी वह अविचलित रहा। निरीक्षकने प्रश्न किया—'स्कॉट ! तू सो रहा था।' और युवक चुप। उसका मस्तक नत हो गया। निरीक्षक क्रोधित होकर चला गया।

दूसरे दिन प्रातःकाल ही युवक फौजी अदालतके न्यायाधीशके सम्मुख उपस्थित था। न्यायाधीशने उसे

मृत्युकी सजा सुना दी। युवक मौन रहा। उसका अपराध जो था ! शीघ्र ही जंगलकी आगकी भाँति युवकके मृत्युदण्डकी सूचना समस्त सेनामें फैल गयी।

अमेरिकामें राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन अपने व्यक्तिगत कक्षमें जनरल गान्टके साथ बैठे युद्धके सम्बन्धमें वार्तालाप कर रहे थे। तभी उन्हें युवकके मृत्युदण्डकी सूचना प्राप्त हुई। लिंकनका दयालु हृदय इस समाचारसे पिघल गया। उन्होंने उस युवकसे भेंट करनी चाही। आज्ञानुसार युवक उनके समक्ष उपस्थित किया गया। लिंकनने देखा—एक साहसी, सच्चरित्र, देशके लिये उत्सर्ग हो जानेवाला वीर युवक उनके सम्मुख खड़ा था। मनमें करुणाका उदय हुआ। उन्होंने युवकसे प्रश्न किया—

'क्या तुम्हारा ही नाम विलियम स्कॉट है ?'

'हाँ श्रीमान् !'—युवकने तत्परतासे उत्तर दिया।

'पहरेपर तुम्हारे सो जानेका कारण ?'

'श्रीमान् ! हाइट नामका मेरा एक मित्र है। मैंने उसकी मातासे प्रतिज्ञा की थी कि मैं उसकी देखभाल करूँगा। वह इधर कुछ दिनोंसे बीमार था। जब वह सेनामें लौटकर आया तब भी बीमारीके कारण वह अशक्त था। घटनाके एक दिन पूर्व मैंने अपने सामानके अतिरिक्त उसका सामान भी पीठपर बाँधकर मार्च किया था। कैम्पमें पहुँचनेपर हम सब सूर्योदयके चुके थे।

हॉस्टमें तो पहरा देनेकी शक्ति ही शेष नहीं रह गयी थी। अतः मैंने उसके पहरेका उत्तरदायित्व भी अपने सिरपर ले लिया। थका तो था ही, शीघ्र ही मुझे नींद आ गयी।'

'क्या तुम्हें ज्ञात है कि तुम्हें मृत्यु-दण्ड दिया गया है?'

'हाँ, श्रीमन् ! मुझे मृत्युका भय नहीं है, किंतु दुःख इस बातका है कि मैं मातृभूमिके किसी काम न आ सका। मैंने सोचा था रणस्थलीमें वीरोंकी भाँति मातृभूमिपर अपने प्राणोंको न्योछावर करूँगा, किंतु अब मुझे कुत्तेकी मौत मरना पड़ेगा।'

युवकका यह उत्तर सुनकर अब्राहम लिंकनका दयालु हृदय द्रवित हो उठा। उन्होंने युवकसे प्रश्न किया—

'क्या तुम्हारे माता-पिताको तुम्हारी मृत्युकी सूचना प्राप्त हो चुकी है?'

'नहीं, श्रीमन् ! मेरी माँ विधवा है। मुझे छोड़कर उनका कोई सहारा नहीं। मैंने अपने मृत्यु-दण्डकी सूचना उन्हें इसीलिये नहीं दी कि यह सुननेपर उनका हृदय टूक-टूक हो जाता, उनका अन्तिम सहारा टूट जाता।'

यह कहकर नवयुवकने लिंकनके हाथमें एक चित्र दिया। लिंकनने देखा—यह उसकी बूढ़ी माँका चित्र था, जिसे वह माँके प्रति अपनी असीम श्रद्धाके कारण हर समय अपने साथ रखता था। युवककी मातृ-भक्ति, साहस और अविचलता देखकर लिंकनसे रहा न गया। वे बोल उठे—

'शोक न करो, स्कॉट ! तुम कुत्तोंकी मौत न मारे जाओगे। देशको अभी तुम-जैसे वीरोंकी अत्यन्त आवश्यकता है।'

यह कहकर लिंकनने रण-क्षेत्रमें आज्ञा-पत्र भेजा—

'स्कॉटका अपराध क्षमा किया जाय।'

युवक यह देखकर अप्रत्याशित आनन्दसे झूम उठा। एक बार पुनः उसके अन्तस्तरमें मातृ-भूमिपर मर-मिटनेकी लालसा प्रदीप्त हो उठी। उसने राष्ट्रपतिको फौजी सलाम किया और कृतज्ञ होकर उनसे विदा ली। दूसरे दिन समाचार प्राप्त हुआ—विलियम स्कॉटने रण-भूमिमें शत्रुके छक्के छुड़ाते हुए वीरगति प्राप्त की।

धन्य है उस वीर और मातृभक्त युवकका साहस, जिसने देशकी वलिवेदीपर अपनेको वलिदान कर दिया और धन्य है लिंकनकी उदारता, जिसके कारण युवकको मातृभूमिपर उत्सर्ग होनेका सुअवसर प्राप्त हुआ। वस्तुतः अब्राहम लिंकन मानवताकी प्रतिमूर्ति थे।

(२)

मनका भुलावा

एक संत कहीं जा रहे थे। गाँव बहुत दूर था। उन्हें बड़ी भूख लगी। मनने कहा—'प्रभुसे माँग लो।' संतने उत्तर दिया—'विश्वासी मनुष्यका यह काम नहीं है।' जब मनकी यह कुचाल विफल हो गयी, तब उसने दूसरी तरहसे जाल बिछाना आरम्भ किया। उसने कहा—'अच्छी बात है, तुम खानेको मत माँगो; परंतु भूखके मारे धीरजको कबतक रख सकोगे? इसलिये धीरज तो माँग लो।' संतने कहा—'ठीक है। धीरज माँगनेमें हानि नहीं है। इतनेमें ही उन्हें अपने अंदर भगवान्की यह दिव्य बाणी सुनायी दी—'देख ! धीरजका समुद्र मैं सदा तेरे साथ ही हूँ न ? तू माँगकर अपने विश्वासको क्यों खो रहा है ? क्या मैं बिना माँगे नहीं देता ? भक्तके योगक्षेमका सारा भार उठानेकी तो मैंने घोषणा ही कर रखी है।'

संतका समाधान हो गया। उन्होंने कहा—'सच है, मैं मनके भुलवेमें आ गया था। भूला था प्रभो ! भूला था।'

सुखमय जीवनके लिये वृक्षारोपणकी अनिवार्य आवश्यकता

आजकल वृक्षारोपणकी चर्चा तो बहुत सुनायी पड़ रही है, परंतु जिस तत्परता और लगनसे यह कार्य सम्पन्न होना चाहिये वैसा हो नहीं पा रहा है। कई दृष्टियोंसे अपने यहाँ वन-सम्पदा और वृक्षारोपणका बहुत अधिक महत्त्व है। यदि यह कहा जाय कि जीवनको सुखमय बनानेके लिये वृक्षोंकी अनिवार्य आवश्यकता है तो यह कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। आज सारे संसारमें जीवनकी जटिलताओंसे मानव आक्रान्त है। भौतिक वातावरणके परिप्रेक्ष्यमें सर्वत्र कृत्रिमता व्याप्त होती जा रही है, जिससे मानव अशान्त और उद्विग्न है। उसे शान्ति चाहिये, पर यह शान्ति कृत्रिम पदार्थमें नहीं, अपितु प्राकृतिक सम्पदाओंसे युक्त वातावरणमें ही प्राप्त हो सकती है। इसीलिये इन प्राकृतिक सम्पदाओंकी सुरक्षा करने तथा इनमें उत्तरोत्तर वृद्धि-हेतु शास्त्रोंमें पर्याप्त विचार किया गया है।

ऋषि-महर्षियोंने वृक्षोंकी विशेष उपयोगिताका निरूपण करते हुए इनकी अनिवार्य आवश्यकतापर बल दिया है। शास्त्रोंने वृक्षको 'धर्म-पुत्र'की संज्ञा भी दी है। संसारमें वंश-वृक्षको सुरक्षित रखनेके लिये जिस प्रकार संतानोत्पत्तिकी परम्परा चलती है, उसी प्रकार उसे (वंश-वृक्षको) दैवी-शक्तिद्वारा अक्षुण्ण करनेके लिये वृक्षारोपणकी भी आवश्यकता निरूपित है। जिस प्रकार

पुत्र श्राद्ध, तर्पण आदिसे अपने पितरोंका उद्धार करता है, उसी प्रकार वृक्षारोपण (वृक्ष लगाने) से मनुष्य अपना, अपने पितरोंका तथा अपनी भावी पीढ़ीका उद्धार करता है। वृक्षको पुत्र-पौत्रादि-संततिके रूपमें माना गया है। वृक्ष अपने पुष्पोंसे देवताओंकी, पत्रोंसे पितृगणोंकी और छायासे अतिथियोंकी पूजा-सेवा करते हैं। वृक्षोंमें किन्नर, सर्प, राक्षस, देव, गन्धर्व, मानव तथा ऋषिगणोंका निवास रहता है। वृक्षके पुष्पकी सुगन्धसे और फलसे सबकी तृप्ति होती है। इसीलिये इन्हें 'धर्मपुत्र'की संज्ञा दी गयी है। कहते हैं कि तड़ाग (तालाव)का निर्माण, वृक्षारोपण और यज्ञका अनुष्ठान करनेवाला व्यक्ति सदा स्वर्गमें निवास करता है, वह कभी नीचे नहीं आता।*

वृक्ष प्रायः राष्ट्रकी सम्पत्ति होते हैं। इनसे आधि-दैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक—तीनों प्रकारके लाभ प्राप्त होते हैं। प्रत्यक्षरूपमें वृक्षोंसे ओषधि, रस, लकड़ी आदि प्राप्त होते हैं, साथ ही गृह-निर्माणादि कार्यमें भी ये सहायक होते हैं। इनके द्वारा वात्या (औंधी), वर्षा एवं ठण्डकसे मनुष्य एवं पशु-पक्षियोंकी भी रक्षा होती है। श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके २२वें अध्यायमें भगवान् वृक्षकी छायामें बैठनेका निर्देश करते हैं। कहते हैं कि वृक्ष अपनी गर्मीसे दूषणोंको खींच लेते हैं, शुद्ध हवा प्रसारित करते हैं तथा वातावरणको

* अद्वैतां तु वृक्षाणां रोपणे च गुणाञ्जल्यु । अतीतानागतौ चोभौ पितृवंशौ महानृपे ॥

तायेद् वृक्षरोपी च तस्माद् वृक्षांस्तु रोपयेत् । पुत्रपौत्रा भवन्त्येते पादपा नात्र संशयः ॥

परलोकं गतः सोऽपि लोकानाप्नोति चाक्षयान् । पुष्पैः सुरगणान् सर्वान् पत्रैश्चापि तथा पितृन् ॥

छायया चातिथीन् सर्वान् पूजयन्ति महीरुहाः । किन्नरोरगरक्षांसि देवगन्धर्व-मानवाः ॥

तथा ऋषिगणाश्चैव संश्रयन्ति महीरुहान् । पुष्पिताः फलवन्तश्च तर्पयन्तीह मानवान् ॥

इहलोके परे चैव पुत्रारते धर्मतः स्मृताः । तद्वागवृक्षरोपाश्च इष्टयज्ञाश्च ये द्विजाः ॥

एते स्वर्गान् दीयन्ते ये चाप्ये सुखदायिनः । (६००) (६००) (६००) (६००) (६००) (६००) (६००) (६००) (६००) (६००)

पवित्र बनाते हैं। मेवोंके निर्माणमें भी वृक्षोंका पूर्ण योगदान है। जहाँ वृक्ष नहीं होते वहाँ वृष्टि भी कम होती है। जहाँ वर्षा कम होती है वहाँ विभिन्न प्रकारसे जीव-जन्तु और प्राणियोंको कालके गालमें जाना पड़ता है। मानव, पशु और पेड़—इन तीनोंके रक्षणके लिये वर्षाकी अत्यधिक आवश्यकता है। भगवान् श्रीकृष्णने गोवर्धन-लीलाके प्रसंगमें कहा है कि मेघ-जलसे प्राणियोंको जीवन मिलता है और तुष्टि प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त वृक्षोंसे अगणित लाभ हैं। नदी तथा जलाशयके किनारे भूमिका कटाव वृक्षोंके कारण रुकता है। पशु-धनकी रक्षा पेड़-पौधोंसे युक्त जंगलोंमें ही होती है। वर्णाश्रमी साधक अपनी आध्यात्मिक उन्नति और मानसिक शान्तिके लिये एकान्त-वनसे युक्त प्राकृतिक वातावरणकी अपेक्षा करते हैं। जब वृक्ष प्रसन्न होते हैं, तब वे प्रचुर मात्रामें सरस-सुमधुर फल प्रदान करते हैं, जिन्हें पाकर संसारके प्राणी तृप्त होते हैं।

वराहपुराणमें यह कहा गया है कि वृक्षारोपण करनेसे नरकसे तो उद्धार होता ही है, साथ ही भूमिदान, गोदान और पञ्चयज्ञ करनेका भी फल प्राप्त होता है। पञ्चयज्ञके सम्बन्धमें वर्णन मिलते हैं कि वृक्षोंसे जलाने-हेतु लकड़ी प्राप्त होती है, वृक्षोंकी छायासे विश्राम मिलता है, पक्षियोंके लिये गृह बनते हैं; वृक्ष-पत्रसे पितरोंकी तृप्ति होती है, वृक्षकी त्वचा (छाल) तथा जड़ औषधि आदिमें प्रयुक्त होती हैं। इस प्रकार वृक्षोंद्वारा पञ्च-यज्ञकी विधि पूरी होती है।

शास्त्रोंमें जहाँ वृक्षारोपणकी अपार महिमा वर्तयी गयी है वहीं वृक्षारोपणके विधि-विधानका भी

विस्तृत वर्णन मिलता है।* विभिन्न वृक्षोंके रोपणका भिन्न-भिन्न फल बताया गया है। पीपलका वृक्ष लगाने-वाला धनी होता है। सहस्र-पुत्रोंका कार्य एक पीपलके वृक्षसे होता है। पद्मपुराण (सृष्टिखण्ड ६०।५) के अनुसार जलाशयके समीप पीपल-वृक्षके रोपणसे जो फलातिशय प्राप्त होता है, वह सैकड़ों यज्ञोंसे भी नहीं हो सकता अर्थात् सैकड़ों यज्ञोंके फलसे कहीं अधिक फल जलाशयके समीप पीपल-वृक्षके रोपणसे प्राप्त होता है। 'अशोक' वृक्ष शोकको दूर करनेवाला है। साथ ही वह एक लक्ष यज्ञ करनेका फल प्रदान करता है। जाने या अनजानेमें जो व्यक्ति जामुनका वृक्ष लगाता है, वह घरमें रहकर भी यतिधर्मका पुण्य प्राप्त करता है। अनारका वृक्ष लगानेसे सुन्दर भार्याकी प्राप्ति वर्तयी गयी है। पलाशका वृक्ष लगानेसे ब्रह्मलोककी प्राप्ति होती है। अकोलका वृक्ष लगानेसे कुलकी वृद्धि होती है। कत्याका वृक्ष लगानेसे लगानेवाला आरोग्यताको प्राप्त करता है। नीमका वृक्ष लगानेसे सूर्य प्रसन्न होते हैं। श्रीफल (बेल)का वृक्ष लगानेसे भूतभावन भगवान् सदा-शिव प्रसन्न होते हैं। पाटलका वृक्ष लगानेसे पराम्बा भगवती पार्वती प्रसन्न होती हैं। चन्दनका वृक्ष लगानेसे पुण्यकी प्राप्ति होती है, चम्पकसे सौभाग्य प्राप्त होता है, परतालसे अपत्यका नाश होता है। चमेलीसे कुल-वृद्धि होती है और केवड़ासे शत्रुका विनाश होता है। वृक्षके सम्बन्धमें पद्मपुराण सृष्टिखण्ड ३२ में कहा गया है कि तीन हजार अथवा दो हजार या एक हजारके लगभग आम-वृक्ष लगानेवाला स्वर्गका भोग भोगता है। तत्पश्चात् जन्म लेनेपर राज्य, कल्याण और परम मङ्गलका भागी होता है।^१ इसी

*-पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड अ० २८, श्लोक १-३२।

१-अश्वत्थरोपणं कृत्वा जलाशयसमीपतः। यत्फलं लभते मर्त्यो न तत्कुरुशतैरपि॥

२-नाकमेति स चूतस्य समारोप्य सहस्रकम्। ततो द्वित्रिगुणेनैव न्यूने वा प्रचुरेऽपि वा॥

भुङ्क्ते भुक्त्वा पुनः कुर्यान्नुपो वाथ सदीश्वरः। स्वर्गं भोग्यं ततो राज्यं कल्याणं मङ्गलं शुभम्॥

CC-O. Nanaji Deshmukh Library, BJP, Jammu. Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

प्रकार अन्य वृक्षोंके भी विभिन्न फल बताये गये हैं; परंतु यदि बिना फलकी इच्छा किये कर्तव्य-बुद्धिसे वृक्षारोपण किया जाय तो उसका अनन्त फल है।

सामान्यतः कहीं भी वृक्ष लगानेका शाखोंमें अत्यधिक महत्त्व माना गया है, परंतु तीर्थ-स्थलोंमें और तीर्थोंके परिक्रमा-मार्गमें वृक्षारोपणका सहस्रगुणा फल मानते हैं। सभी तीर्थोंमें प्रायः परिक्रमा-मार्ग होते हैं; जैसे ब्रजमें गिरिराजकी परिक्रमा, मथुरा-वृन्दावन और वरसानेकी परिक्रमा, अवधमें अयोध्याकी १४ कोसकी परिक्रमा, चित्रकूटमें कामतानाथकी परिक्रमा प्रमुख है। काशीमें पञ्चकोशी और अन्तर्गृही आदिकी परिक्रमा होती है। इन परिक्रमा-मार्गोंमें वृक्षारोपण करनेका अक्षय पुण्य है।

इधर भारत-सरकारने वृक्षारोपणकी योजनाएँ बनायी हैं; पर ये योजनाएँ कितनी सफल होंगी यह तो भविष्य ही बतायेगा। हमारी दृष्टिमें वृक्षारोपण तबतक पूर्ण सफल नहीं हो सकता, जबतक इसके

साथ कुछ और सुदृढ़ प्रयत्न न किये जायें। जैसे संतानके उत्पन्न होनेपर उसका लालन-पालन-पोषण आवश्यक होता है उसी प्रकार वृक्षारोपणके उपरान्त उनका सिंचन और उनकी सुरक्षा भी उतनी ही आवश्यक है। केवल वृक्षारोपणकी गिनतीसे वृक्ष और वन-सम्पदाकी वृद्धि नहीं हो सकती। इसके लिये सुदृढ़ सुरक्षा-व्यवस्था करना अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। आजके दिनोंमें यद्यपि बृहद्रूपसे यह कार्य सरकारद्वारा ही सम्भव है, परंतु साथ-साथ देश-वासियोंका भी यह कर्तव्य है कि वे इस पुनीत कार्यमें पूर्ण सहयोग प्रदान करें। सामूहिक रूपसे तथा व्यक्तिगत रूपसे वृक्षारोपणके कार्यक्रम चलाये जायें और उनकी पूर्ण सुरक्षाका प्रबन्ध किया जाय। इस पवित्र कार्यसे राष्ट्रकी रक्षा और देशकी प्रगति तो होंगी ही, साथ ही शाखोंकी दृष्टिसे वृक्षारोपण करनेवालों और उसमें सहयोग करने-वालोंका पारलौकिक कल्याण भी होगा।

—राधेश्याम खेमका

वृक्षारोपणसे अक्षय पुण्यकी प्राप्ति

यस्तु रोपयते तीरे पुण्यवृक्षान् समन्ततः । तस्य पुण्यफलं ज्ञातुं नैव शक्यते ॥
अन्यत्र रोपणं कृत्वा शाखिनां यत् फलं लभेत् । ततो जलसमीपे तु लक्षकोटिगुणं भवेत् ॥

स्वयं पुष्करिणीतीरे त्यजन्तं फलमश्नुते ।

अश्वत्थरोपणं कृत्वा जलाशयसमीपतः । यत्फलं लभते मर्त्या न तत्कृतुशतैरपि ॥
पतन्ति यानि पत्राणि जले पर्वणि पर्वणि । तानि पिण्डसमानीह पितृणामक्षयं ययुः ॥
खादन्ति पतगास्तत्र फलानि कामतो ध्रुवम् । ब्रह्मभक्ष्यसमं तस्य पुण्यं भवति चाक्षयम् ॥

(पद्मपुराण, सृष्टिलण्ड ६० । २-७)

जो जलाशयके तटपर चारों ओर पवित्र वृक्षोंको लगाता है, उसके पुण्यफलका पूरा ज्ञान अथवा वर्णन नहीं किया जा सकता। अन्य स्थानोंपर वृक्ष लगानेसे जो फल प्राप्त होता है, उसकी अपेक्षा जलके समीप लगानेपर करोड़ों गुना अधिक फल होता है। अपने वनवाये हुए पोखरेके किनारे वृक्ष लगानेवाला मनुष्य अनन्त फलका भागी होता है। जलाशयके समीप पीपलका वृक्ष लगाकर मनुष्य जिस फलको प्राप्त करता है, वह सैकड़ों यज्ञोंसे भी नहीं मिल सकता। प्रत्येक पर्वके दिन जो उसके पत्ते जलमें गिरते हैं, वे पिण्डके समान होकर पितरोंको अक्षय वृत्ति प्रदान करते हैं तथा उस वृक्षपर रहनेवाले पक्षी अपनी इच्छाके अनुसार जो फल खाते हैं, उसका ब्राह्मण-भोजनके समान अक्षय फल होता है।

गीताप्रेससे प्रकाशित साहित्य

नाम पुस्तक	मूल्य	डाकखर्च	नाम पुस्तक	मूल्य	डाकखर्च
गीता-तत्त्वविवेचनी	१२.००	५.२०	कठोपनिषद्	२.५०	३.१५
गीता शांकरभाष्य	१२.००	४.८०	माण्डूक्योपनिषद्	५.५०	३.५०
गीता मझोली सजिल्द	५.००	३.५०	तैत्तिरीयोपनिषद्	३.००	३.३५
गीता माहात्म्यसहित सजिल्द	४.५०	३.७०	पुराण		
गीता मोटे अक्षरकी सजिल्द	३.५०	३.५०	श्रीविष्णुपुराण	१५.००	५.१०
गीता मूल मोटा टाइप	१.७५	३.२५	श्रीमद्भागवत सटीक		
गीता केवल भाषा	१.२५	३.१५	(प्रथम खण्ड)	२५.००	६.६५
गीता पञ्चरत्न	१.५०	३.१५	श्रीमद्भागवत सटीक		
गीता मूल, विष्णुसहस्रनामसहित	०.६५	०.२०	(द्वितीय खण्ड)	२५.००	६.७५
स्वामी श्रीराममुखदासजीकी पुस्तकें			अध्यात्मरामायण	१४.००	४.६०
गीता साधक-मंजीवनी	३५.००	७.५०	श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण		
गीता-दर्पण	१५.००	४.५०	सटीक (प्रथम खण्ड)	३०.००	६.००
गीताका भक्तियोग	४.००	३.५०	श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण		
गीताका ज्ञानयोग	४.००	३.५०	सटीक (द्वितीय खण्ड)	३०.००	५.७५
गीताका कर्मयोग खण्ड २	४.००	३.६०	श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण		
गीताका आरम्भ	३.५०	३.५०	(केवल भाषा)	३५.००	६.८०
गीताकी सम्पत्ति और श्रद्धा	३.००	३.४०	श्रीरामचरितमानस मोटा		
गीताकी विभूति और विश्वरूप-			टाइप सटीक बृहदाकार	६०.००	१०.५०
दर्शन	३.००	३.३०	श्रीरामचरितमानस मोटा		
गीताका ध्यानयोग	२.००	३.१५	टाइप सटीक	३०.००	६.७५
गीताका सारभूत श्लोक	०.८०	.२०	श्रीरामचरितमानस मूल		
उपनिषद्			मोटा टाइप	१८.००	५.१०
ईशावास्योपनिषद्	०.६०	.२०	श्रीरामचरितमानस		
कठोपनिषद्	२.००	३.१५	(अंग्रेजी अनुवाद)	२५.००	६.००

इसके अनिर्गुण भी जीवनोपयोगी साहित्य उपलब्ध है । मुन्शीपत्र मैगाकर आर्डर भेजने चाहिये ।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस

अनन्त गुणमयी श्रीराधा

अङ्ग अङ्ग अप्रतिम अमित सौन्दर्य, अतुल माधुर्य महान ।
 दिव्य पवित्र अङ्ग-मौरभ, संतत शुचि अधर मधुर मुसकान ॥
 नेत्र सुधावर्षिणी दृष्टियुत, चञ्चलता वक्रता विशाल ।
 दीर्घ कृष्ण कच, सोह चन्द्रिका, वेणि-सुगुम्फित मालति-माल ॥
 सुकुमारता, सहज श्री-सुषमा, प्रियदर्शना, विलक्षण रूप ।
 सहज सरलता, परम बुद्धिमत्ता, सेवा-रति, धैर्य अनूप ॥
 नित्य विरह-कातरता, मिलनोत्कण्ठा, नित्य मिलन अनुभूति ।
 निरभिमानता, मान-रूपता, वामभावना, विमल विभूति ॥
 विनयशीलता, शुचि विनम्रता, सर्वत्यागमयता अति पूत ।
 करुणामयता, अति उदारता, कर्मकुशलता रस-सम्भूत ॥
 साधुभाव, सौशील्य परम, चापल्य मधुर, शास्त्रीर्य अपार ।
 गीत-वाद्य-शुचिनुत्य-कुशलता, ललित अनन्त कला आगार ॥
 प्रिय-गुण-वर्णन-सुखरा अति, मन मौन, नित्य उद्दीप्ति भाव ।
 स्व-सुख-कल्पना-शून्य सर्वथा, नित्य एक प्रियतम-सुख-चाव ॥
 सहज प्रेम-प्रतिमा, पर निजमें नित्य प्रेमशून्यता-ज्ञान ।
 आत्मनिवेदनमयता, पर है नहीं समर्पण-स्मृति-अभिमान ॥
 मखी-सहचरी-प्रेम-विवशता, सबमें गुण-महिमाका भान ।
 मक्के सुखमें सुखी सदा, निज सुखका सहज त्याग निर्मान ॥
 सौत-प्रियता-सेवा सुखमय प्रियतम-सुख-सम्पादन-जन्य ।
 प्रियतम-वशीकरण गुणगणमय, परम त्यागमय जीवन धन्य ॥
 रति, स्नेह अति, प्रणय, मान शुचि, पञ्चम राग तथा अनुराग ।
 ममम दुर्लभ भाव, प्रेम अष्टम अति महाभाव युत त्याग ॥
 आठोंसे सम्पन्न, इन्हींकी अगली शुभ परिणतिसे युक्त ।
 प्रियतम-महिषी-प्रेयसिगणमें प्रसुख सर्व-अर्पण-संयुक्त ॥
 प्रेमविवशता मधुर, नित्य अभिमार-प्रियता, प्रिय-स्मृति-लीन ।
 नवनिकुञ्जवामिनि, मधुभाषिणि, परमैश्वर्यमयी, शुचि दीन ॥
 ममतामयी मधुकरी करती प्रिय-पद-कंज-मधुर-रस-पान ।
 'मैं अभिन्न प्रियतमा व्यासकी' एक अनन्य अहंका मान ॥